

February 2021

*Bulletin of Sri Aurobindo*  
*International Centre of Education*

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

फ़रवरी २०२१



श्रीअरविन्द आश्रम  
पॉण्डिचेरी, भारत

## बुलेटिन फ़रवरी २०२१

### विषय-सूची

#### 'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

दिव्य शरीर	श्रीअरविन्द ३
एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से ११
कठिनाइयाँ तथा सूर्यालोकित पथ	श्रीअरविन्द १८
विद्यार्थियों को सलाह	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२ से २०
श्रीमाँ की शरण में	श्रीअरविन्द २२
१२ मई १९५३ के वार्तालाप का एक अंश	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५ से २२
श्रीअरविन्द के उत्तर (७९)	२४

### ‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

### दिव्य शरीर

उन लोगों के लिए काम-वासना एक समस्या खड़ी कर देती है जो शरीर की पाशविकता के द्वारा आरोपित बाध्यता को पूर्ण रूप से इनकार करेंगे और उच्चतर जीवन के अभीप्सु के मार्ग में इसे निरन्तर बाधक के रूप में देखेंगे। मानवजाति के दीर्घीकरण के लिए यह आवश्यक है जिसके लिए काम-सम्बन्धी क्रिया एकमात्र साधन है जिसे प्राणियों के लिए प्रकृति द्वारा पहले से ही व्यवस्थित कर दिया गया है तथा अनिवार्य रूप से प्रजाति पर आरोपित कर दिया गया है। यह सचमुच आवश्यक नहीं है कि दिव्य जीवन का जिज्ञासु व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से—जो अपने लिए नहीं बल्कि कम-से-कम एक आदर्श के रूप में पूरी मानवता के द्वारा इसकी व्यापक स्वीकृति चाहते हैं—इस समस्या का समाधान करे। हमेशा ही ऐसे बहुत से लोग रहेंगे जिनका इस आदर्श से कोई सम्बन्ध न होगा अथवा इसकी सम्पूर्ण साधना के लिए वे तैयार न होंगे और ऐसे लोगों पर प्रजाति के प्रवर्धन का दायित्व छोड़ा जा सकता है। दिव्य जीवन यापन करने वालों की संख्या क्रायम रखी जा सकती है तथा इसके लिए अभीप्सा करने वालों के द्वारा तथा इस आदर्श से प्रभावित लोगों के द्वारा इसका स्वतः विस्तार हो सकता है और इस उद्देश्य के लिए न भौतिक साधन अपनाने की और न ही कठोर वासनात्मक संयम के नियम से विचलित होने की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु फिर भी ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जिनमें, एक दूसरे दृष्टिकोण से, ऐसी आत्माओं के लिए शरीर का स्वैच्छिक सृजन वाञ्छनीय हो सकता है जो पार्थिव जीवन में प्रवेश कर दिव्य जीवन के सृजन तथा विस्तार में सहायक बनना चाहती हैं। तब इस उद्देश्य के लिए शारीरिक प्रजनन की आवश्यकता को तभी टाला जा सकता है जब कोई अतिभौतिक प्रकार का विकल्प विकसित तथा उपलब्ध किया जा सके। ऐसे विकल्प का विकास गुह्य विद्या का क्षेत्र माना जाता है तथा गुप्त शक्तियों का प्रयोग सामान्य मानव मस्तिष्क के लिए अज्ञात है। गुह्य विद्या का ठीक-ठीक अर्थ है—प्रकृति, आत्मा, मन, प्राणिक शक्ति तथा सूक्ष्म भौतिक चेतना की उच्चतर क्षमताओं का इस प्रकार प्रयोग जिससे

या तो उनका अपना प्रयोजन सिद्ध होता हो अथवा उनके अपने गुप्त विधान तथा इसकी क्षमताओं के कुछ दबाव से मनुष्य में या पार्थिव मन, प्राण, शरीर या जड़-द्रव्य के संसार की वस्तुओं तथा घटनाओं पर प्रभाव तथा परिणाम लाना हो। कुछ सुज्ञात चिन्तकों का विचार है कि इन अल्पज्ञात या अब तक इन अविकसित शक्तियों की खोज या प्रसार आसन्न भविष्य में मानवजाति के क्रमिक विकास का अगला चरण होगा; परन्तु जिस प्रकार के सृजन की बात हम कर रहे हैं उसे इन धारणाओं में सम्मिलित नहीं किया गया है, फिर भी इसे नयी सम्भावनाओं में सम्मिलित किया जा सकता है। यहाँ तक कि भौतिक विज्ञान भी मनुष्य अथवा पशुओं में भौतिक प्राणिक-शक्ति के प्रसार अथवा नवीकरण के क्षेत्र में सामान्य प्राकृतिक प्रक्रियाओं से परे जाने के लिए भौतिक साधनों की खोज का प्रयास कर रहा है। परन्तु, गुह्य साधनों का आश्रय तथा सूक्ष्म भौतिक प्रक्रियाओं का हस्तक्षेप, यदि इसे सम्भव बनाया जा सके, एक महत्तर साधन होगा जिसके द्वारा एकमात्र भौतिक शक्ति के विधान द्वारा उपलब्ध साधनों तथा परिणामों की सीमाओं, हीनताओं तथा अपूर्णता को टाला जा सकेगा।

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही ऐसे व्यक्तियों द्वारा इन शक्तियों के प्रयोग की सम्भावना तथा वास्तविकता में व्यापक रूप से विश्वास रहा है जो इन गुप्त चीज़ों का बहुत ऊँचा ज्ञान रखते थे या जिनका आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव बहुत विकसित था और जो वह तन्त्र-विद्या जानते थे जिनकी विधि तथा प्रयोग बहुत व्यवस्थित होता था। ऐसा भी सामान्य रूप से विश्वास किया जाता है कि योगी की शक्ति से मनोवाञ्छित पुत्र-पुत्री को जन्म दिया जा सकता है और प्रायः इस प्रकार का अनुरोध किया गया है और इस प्रकार प्रदत्त बालक के लिए आध्यात्मिक नियति के आशीर्वाद की प्रार्थना की गयी है। इस प्रकार का परिणाम केवल अतीत की परम्परा में ही नहीं बल्कि वर्तमान में भी इसका निर्वाह किया गया है। लेकिन इसमें भी प्रजनन की सामान्य विधि तथा भौतिक प्रकृति के घटिया साधन का सहारा लेना पड़ता है। यदि इसकी आवश्यकता से हम बचना चाहते हैं तो एक शुद्ध गुह्य विधि को—जो केवल अतिभौतिक प्रक्रियाओं पर निर्भर हो और अतिभौतिक साधनों द्वारा क्रिया करे परन्तु जिसका परिणाम भौतिक हो—सम्भव बनाना होगा। अन्यथा वासनात्मक आवेग तथा इसकी पाशविक प्रक्रिया से मुक्त होना सम्भव नहीं होगा। यदि भौतिकीकरण तथा अभौतिकीकरण की चमत्कारी घटनाओं में—जिसकी सच्चाई का गुह्यवादी दावा करते हैं और जिन्हें हममें से बहुत लोगों ने देखा है—कुछ वास्तविकता है तब इस प्रकार की एक विधि इसका विकल्प बन सकती है। क्योंकि गुह्यवादियों के सिद्धान्त तथा योग-ज्ञान के अनुसार हमारी सत्ता की श्रेणियों तथा लोकों के वर्गीकरण में न केवल एक सूक्ष्म भौतिक शक्ति बल्कि एक सूक्ष्म भौतिक जड़-द्रव्य भी होता है जो प्राण तथा स्थूल जड़-द्रव्य के बीच मध्यवर्ती कड़ी का काम करता है। अतः, इस सूक्ष्म भौतिक तत्त्व में सृजन करना तथा इसमें निर्मित रूपों को स्थूलतर द्रव्य में घनीभूत करना साध्य हो सकता है। ऐसा सम्भव होना चाहिये और इसकी सम्भावना में विश्वास किया जाता है कि गुह्य शक्ति तथा प्रक्रिया के द्वारा इस सूक्ष्म भौतिक तत्त्व में निर्मित रूप को सूक्ष्मता से स्थूल द्रव्य की स्थिति

में सीधा पारगमित किया जा सकता है जिसमें स्थूल भौतिक प्रक्रिया की सहायता की ज़रूरत हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती। यदि कोई आत्मा किसी शरीर में प्रवेश करना चाहती है अथवा अपना शरीर स्वयं निर्मित करना चाहती है और पृथ्वी पर दिव्य जीवन में भाग लेना चाहती है तब ऐसा करने में उसकी मदद की जा सकती है अथवा सीधा रूपान्तरण की इस विधि द्वारा उसे ऐसा रूप प्रदान किया जा सकता है जिसमें प्रजनन-प्रक्रिया के द्वारा न जन्म लेने की ज़रूरत पड़ेगी न ही उसे किसी घटिया प्रक्रिया तथा हमारी वर्तमान अपरिहार्य जीवन-शैली के अनुसार इसके मानसिक तथा शारीरिक विकास, वर्धन की सीमाओं से गुज़रना होगा। तब हो सकता है कि यह एक सच्चे दिव्य भौतिक शरीर की संरचना करे जो महत्तर शक्तियाँ तथा कार्य ग्रहण कर ले और तब वह एक दिन एक दिव्य पार्थिव प्रकृति में जीवन तथा रूप दोनों के पूर्ण रूपान्तरित जगत् में एक प्रगतिशील क्रमविकास के द्वारा अवश्य प्रकट होगा।

परन्तु इस दिव्य शरीर की आन्तरिक अथवा बाहरी संरचना तथा इसकी यान्त्रिकता क्या होगी? पशु तथा मानव शरीर के विकास के भौतिक इतिहास के अनुसार इसकी रचना अत्यन्त सूक्ष्म रूप से तथा अंगों की विस्तृत प्रणाली के साथ और उनकी कार्य-पद्धति के खतरनाक क्रम में की गयी है जो आसानी से दुर्व्यवस्था बन सकती है, जिसमें सामान्य तथा स्थानीय गड़बड़ की सम्भावना बनी रह सकती है और जो आसानी से विक्षुब्ध होने वाले स्नायु-तन्त्र पर निर्भर करती है तथा जो एक ऐसे मस्तिष्क से नियन्त्रित होती है जिसके स्पन्दन यान्त्रिक तथा स्वचालित माने जाते हैं जो हमारे सचेतन नियन्त्रण में नहीं रहते। भौतिकवादी के अनुसार यह सब केवल जड़-द्रव्य की क्रिया है जिसकी मौलिक वास्तविकता रासायनिक है। हमें यह मान कर चलना है कि शरीर की रचना रासायनिक तत्वों के माध्यम से होती है जो परमाणु, अणु तथा कोशिकाओं का निर्माण करते हैं और ये पुनः एक जटिल शारीरिक संरचना तथा यान्त्रिकता के माध्यम तथा इनके एकमात्र वाहक होते हैं। यही हमारी क्रियाओं, विचारों, भावनाओं का एकमात्र यान्त्रिक कारण होता है। आत्मा केवल एक कल्पना-मात्र है तथा मन और प्राण इस यन्त्र के केवल भौतिक तथा यान्त्रिक अभिव्यक्ति तथा बाह्याकृति हैं जो एक मनगढ़न्त चेतना से निश्चेतन जड़-द्रव्य में अन्तर्निहित शक्तियों के द्वारा चालित होते हैं। यदि यही सत्य होता तब स्पष्ट रूप से शरीर का दिव्यीकरण अथवा दिव्य रूपान्तरण इत्यादि एक भ्रम, एक कल्पना, एक अर्थहीन तथा असम्भव कपोल-कल्पना के अतिरिक्त और कुछ न होता। परन्तु हम यदि यह मान भी लें कि इस शरीर में एक आत्मा, एक सचेतन संकल्प कार्यरत है फिर भी इसका दिव्य रूपान्तरण तब तक नहीं होगा जब तक शरीर की यान्त्रिक बनावट में ही तथा इसकी भौतिक कार्यप्रणाली में ही मौलिक परिवर्तन न हो। रूपान्तर करने वाला कारक भौतिक-जीव की अपरिवर्तनीय सीमितताओं के कारण अपना कार्य बन्द करने के लिए बाध्य हो जायेगा तथा हमारे अन्दर के अपरिष्कृत अथवा अपूर्ण रूप से परिष्कृत मौलिक पशु के द्वारा उसे रोक दिया जायेगा। इन शारीरिक व्यवस्थाओं में जन्मजात रूप से वर्तमान अव्यवस्थाओं, अस्तव्यस्तताओं, व्याधियों की सम्भावना फिर भी बनी रहेगी तथा इन्हें तभी बन्द किया जा सकता है जब इस शरीर में निवास

करने वाले आध्यात्मिक आवासी तथा स्वामी की इस पर अनिवार्य रूप से निरन्तर निगरानी तथा नियन्त्रण बना रहे। इसे सच्चा दिव्य शरीर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दिव्य शरीर में इन सब चीज़ों से जन्मजात मुक्ति स्वाभाविक तथा चिरस्थायी होगी। यह मुक्ति इसकी सत्ता का एक सामान्य तथा जन्मजात सत्य होगी और इसलिए अपरिहार्य तथा अपरिवर्तनीय होगी। इस शारीरिक प्रणाली की कार्य-पद्धति तथा संरचना का भी तथा निश्चित रूप से इसके अत्यन्त यान्त्रिक तथा भौतिक आवेगों तथा प्रेरक शक्तियों का आमूलचूल रूपान्तरण अत्यावश्यक हो जायेगा।

इस सर्व-महत्त्वपूर्ण मुक्ति तथा परिवर्तन के साधन के रूप में हम किसे माध्यम बनायें? हमारे अन्दर कुछ है अथवा हमें किसी चीज़ को विकसित करने की ज़रूरत है—शायद हमारी सत्ता के एक केन्द्रीय तथा अभी तक गुह्य अंश को जिसमें शक्तियाँ समाविष्ट रहती हैं लेकिन हमारी वास्तविक वर्तमान बनावट में केवल उनका अल्पांश ही अभिव्यक्त हो पाता है। किन्तु यदि वे पूर्ण और प्रभावशाली बन जायें तब वे आत्मा तथा अतिमानसिक सत्य-चेतना के प्रकाश की शक्ति की सहायता से आवश्यक शारीरिक रूपान्तरण और इसके परिणामों को लाने में सचमुच समर्थ हो पायेंगी। यह चक्रों की प्रणाली में पाया जा सकता है जिसका रहस्योद्घाटन तन्त्र-विद्या द्वारा किया गया है तथा जिसे योग की पद्धतियों में स्वीकार किया गया है। ये चक्र हमारी सत्ता की समस्त गत्यात्मक शक्तियों के सचेतन केन्द्र तथा उद्गम हैं जो अपने जाल-केन्द्रों के माध्यम से उनकी क्रिया को संघटित करते हैं। ये चक्र निम्नतम भौतिक केन्द्र से आरोहण करते हुए उच्चतम मन तथा आध्यात्मिक केन्द्र तक—जिसे सहस्रदल कमल कहा जाता है—जाते हैं जहाँ आरोहणकारी प्रकृति, तान्त्रिकों की कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है तथा भागवत सत्ता में विलीन होकर मुक्त हो जाती है। ये केन्द्र हमारे अन्दर बन्द अथवा आधे बन्द रहते हैं तथा इनके खुलने पर ही हमारी भौतिक प्रकृति में इनकी पूर्ण अन्तःशक्ति प्रकट हो सकती है। परन्तु यदि ये एक बार खुल जायें और पूरी तरह सक्रिय हो जायें तब इनकी शक्तियों के विकास की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती तथा पूर्ण रूपान्तरण सम्भव हो सकता है।

परन्तु इन शक्तियों के प्रकट होने पर तथा स्वयं शरीर पर उनकी मुक्त और दिव्यतर क्रिया का परिणाम क्या होगा, इसके साथ उनका गत्यात्मक सम्बन्ध क्या होगा तथा अभी तक मौजूद पाशविक प्रकृति, पाशविक आवेगों तथा स्थूल भौतिक क्रियाविधि पर उनकी रूपान्तरकारी शल्यक्रिया क्या होगी? ऐसा माना जा सकता है कि प्रथम आवश्यक परिवर्तन होगा—मन, प्राण, सूक्ष्म भौतिक साधनों तथा भौतिक चेतना की एक मुक्ततर तथा दिव्यतर गतिविधि में मुक्ति, उनकी चेतना की बहुआयामी तथा असीमित क्रियाविधि, उच्चतर शक्तियों के प्रारम्भ तथा स्वयं शारीरिक चेतना, इसकी यान्त्रिकता, क्षमता, जड़-पदार्थ के संसार में आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए सामर्थ्य। हम लोगों में अभी तक प्रच्छन्न सूक्ष्म इन्द्रियाँ अब मुक्त क्रिया के लिए आगे आ सकती हैं तथा भौतिक इन्द्रियाँ स्वयं अब तक हमारे लिए उन अदृश्य बनी चीज़ों की अन्तर्दृष्टि के साधन या मार्ग बन सकती हैं जो हमें चारों ओर से घेरे हुई हैं किन्तु अभी अप्राप्य हैं और

हमारे ज्ञान से परे हैं। पाशविक प्रकृति के आवेगों पर एक सुदृढ़ नियन्त्रण किया जा सकता है अथवा उनका शुद्धीकरण और सूक्ष्मीकरण किया जा सकता है जिससे वे पूँजी बन सकें न कि भार बने रहें तथा उनका इतना रूपान्तर हो सकता है जिससे वे एक दिव्यतर जीवन के अंग और प्रक्रिया बन सकें। परन्तु फिर भी ये परिवर्तन भौतिक प्रक्रियाओं के अवशेष छोड़ जायेंगे जिससे कुछ पुराने तौर-तरीके बने रहेंगे तथा उच्चतर नियन्त्रण के वश में नहीं रहेंगे। और यदि यह परिवर्तन न हो सका तब शेष रूपान्तरण भी अवरुद्ध तथा अपूर्ण रह जायेगा। शरीर का पूर्ण रूपान्तरण जीव के सर्वथा भौतिक अंश, इसकी बनावट, इसकी प्रक्रियाओं तथा इसकी प्रकृति के संगठन में पर्याप्त परिवर्तन की माँग करता है।

फिर, ऐसा भी सोचा जा सकता है कि पूर्ण नियन्त्रण,—इस जीव का तथा इसकी अदृश्य क्रिया तथा प्रभावकारी नियन्त्रण का ज्ञान तथा अन्तर्दृष्टि जिससे सचेतन संकल्प के अनुसार इसकी शल्यक्रिया का निर्धारण किया जा सके—पर्याप्त होगा। इस सम्भावना की पुष्टि हो चुकी है क्योंकि कुछ व्यक्तियों में आन्तरिक शक्तियों के विकास के एक भाग के रूप में कुछ उपलब्धि पहले हुई है। शरीर में अचल रूप से प्राण को बनाये रखते हुए श्वास बन्द कर देना, केवल श्वास ही नहीं बल्कि इच्छानुसार सभी प्राणिक क्रियाओं को लम्बी अवधि तक पूर्ण रूप से बन्द रखना, उसी प्रकार इच्छानुसार विचार, वाक् तथा अन्य मानसिक गतिविधियों को जारी रखते हुए हृदय की गति को बन्द रखना—इनके अतिरिक्त शरीर पर संकल्प-शक्ति के अधिकार की अन्य घटनाएँ सुज्ञात तथा इस प्रकार के नियन्त्रण के प्रमाणित उदाहरण हैं। परन्तु ये सब विरल उदाहरण हैं और रूपान्तरण तक नहीं ले जाते। पूर्ण नियन्त्रण अनिवार्य है, सुस्थापित तथा प्रथागत और वास्तव में स्वाभाविक नियन्त्रण। यदि यह भी उपलब्ध हो जाये फिर भी सम्पूर्ण मुक्ति तथा एक दिव्य शरीर में परिवर्तन के लिए कुछ अधिक मौलिक वस्तु की माँग करनी होगी।

पुनः, यह आग्रह के साथ कहा जा सकता है कि पार्थिव प्रकृति को बनाये रखने के लिए आवश्यक भौतिक आधार के रूप में शरीर के जैविक ढाँचे तथा इसके आधारभूत बाहरी आकार को बनाये रखना होगा जो पार्थिव जीवन के साथ दिव्य जीवन का सम्पर्क स्थापित करता है तथा क्रमविकास की प्रक्रिया को बनाये रखता है जिससे ऊपर की सत्ता के साथ सम्बन्ध टूट न जाये और वह केवल पार्थिव दिव्य परिपूर्ति की ही नहीं; बल्कि उच्चतर लोक की चीज़ बन जाये। हमारी प्रकृति में स्वयं पशु की दीर्घकालिक सत्ता, यदि अभिव्यक्ति का यन्त्र बनने के लिए, बाधा नहीं, पर्याप्त रूप से रूपान्तरित हो जाये, तब क्रमविकासात्मक सम्पूर्णता को बनाये रखने के लिए निरन्तरता आवश्यक होगी। भौतिक जगत् में उद्गामी देव के जीवन्त वाहन के रूप में इसकी ज़रूरत पड़ेगी, जहाँ उसे नये जीवन के कार्यों तथा आश्चर्यों को क्रियान्वित तथा उपलब्ध करना होगा। यह सुनिश्चित है कि एक ऐसा शारीरिक रूप होना चाहिये जो इस सम्पर्क को बनाये रखे और साथ ही एक ऐसी शारीरिक क्रिया भी होनी चाहिये जिसमें पार्थिव गत्यात्मकता तथा इसकी मौलिक गतिविधियाँ हों, परन्तु यह सम्पर्क परिवर्तन की सम्पूर्णता में एक बन्धन, या परिसीमन या प्रतिवाद न बन जाये। वर्तमान जीव को इसके रूपान्तरण के

बिना बनाये रखना पुरानी प्रकृति में एक ऐसे ही बन्धन तथा परिसीमन का कार्य करेगा। कोई भौतिक आधार होगा किन्तु यह पृथ्वी का, यानी पार्थिव होगा—पुरानी पृथ्वी का—नवीन पृथ्वी का नहीं जिसमें एक दिव्यतर मनोवैज्ञानिक संरचना होगी, क्योंकि उस संरचना के साथ पुरानी प्रणाली सामञ्जस्य नहीं रख पायेगी और इसके क्रमविकास को आगे नहीं बढ़ा पायेगी, यहाँ तक कि जड़-द्रव्य में एक आधार के रूप में उसे बनाये भी नहीं रख पायेगी। यह जीव के एक-एक अंश को, निम्नतर भाग को, अरूपान्तरित मानवता तथा अपरिवर्तित पाशविक गतिविधि के साथ बाँधे रखेगी और अतिमानसिक प्रकृति की अतिमानवता में इसकी मुक्ति को रोक देगी। तब सम्पूर्ण शारीरिक रूपान्तरण के एक आवश्यक भाग के रूप में यहाँ भी परिवर्तन आवश्यक है जो सम्पूर्ण मनुष्य को दिव्य बना देगा, कम-से-कम अन्तिम परिणाम में, तथा उसके क्रमविकास को अपूर्ण नहीं छोड़ेगा।

ऐसा कहा जा सकता है कि यह लक्ष्य पर्याप्त रूप से पूरा हो जायेगा यदि केन्द्रों की यान्त्रिकता तथा उनकी शक्तियाँ प्रकृति की समस्त गतिविधियों पर, शरीर पर पूर्ण अधिकार के साथ नियन्त्रण कर लें तथा इसे इसके दोनों संरचनात्मक रूप और जैविक कार्यविधियों में सञ्चार का एक मुक्त मार्ग और साधन, तथा जड़-द्रव्य के जगत् में भौतिक जीवन में जो कुछ उन्हें करना है उन सबके लिए ज्ञान तथा गत्यात्मक क्रिया का एक नमनीय यन्त्र बना लें। स्वयं भौतिक अंगों की शल्यक्रियात्मक प्रक्रियाओं में परिवर्तन की आवश्यकता होगी और हो सकता है कि स्वयं उनके गठन में और उनके महत्त्व में ही ऐसा हो। वे नये भौतिक जीवन पर अपनी सीमाओं को आवश्यक रूप से आरोपित नहीं कर पायेंगे। प्रारम्भ में, वे अधिक स्पष्ट रूप से सञ्चार-मार्गों तथा क्रिया के बाहरी सिरों का काम करें, अन्तेवासी के मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों के लिए अधिक उपयोगी बन जायें, उत्तर देने में कम अन्धरूप से भौतिक हों तथा उन आन्तरिक गतिविधियों तथा शक्तियों के कार्य तथा लक्ष्य के प्रति अधिक सजग हों जो उनका उपयोग करती हैं। मस्तिष्क विचारों के रूप का सञ्चार-मार्ग तथा शरीर और बाहरी संसार पर उनके आग्रह की बैटरी होगी जहाँ वे तब सीधे प्रभावशाली बन सकते हैं, बिना भौतिक साधनों के एक मन से दूसरे मन तक सम्पर्क कर सकते हैं, दूसरों के विचारों, क्रियाओं तथा जीवनो पर, यहाँ तक कि भौतिक वस्तुओं पर भी उतना ही प्रभाव डाल सकते हैं। उसी प्रकार हृदय चैत्य-केन्द्र की शक्तियों के द्वारा बाहरी संसार पर प्रक्षेपित भावनाओं तथा संवेगों के आदान-प्रदान का सीधा सञ्चारक तथा माध्यम होगा। हृदय सीधा हृदय को उत्तर देगा, प्राण-शक्ति दूसरे प्राणियों की मदद करेगी तथा जान-पहचान के बिना और दूरी के बावजूद, उनकी पुकार का उत्तर देगी। बहुत सी सत्ताएँ बाहरी सञ्चार के बिना सन्देश के साथ पुलकित होंगी तथा एक दिव्य केन्द्र के गुह्य प्रकाश में आपस में मिलेंगी। संकल्प उन अवयवों को नियन्त्रित कर सकता है जिनका सम्बन्ध भोजन से है, स्वचालित रूप से स्वास्थ्य को सुरक्षित रख सकता है, लालच और कामना को निर्मूल कर सकता है, सूक्ष्मतर प्रक्रियाओं का स्थान ले सकता है अथवा वैश्व प्राणिक शक्ति से बल तथा तत्त्व को खींच सकता है जिससे शरीर लम्बे समय तक अपने बल और तत्त्व को अक्षय रूप



से बनाये रख सके और इस प्रकार भौतिक आहार द्वारा पुष्टि की ज़रूरत न पड़े तथा थकावट, निद्रा या विश्राम के बिना लगातार श्रमसाध्य कर्म करता रहे। आत्मा का संकल्प या मन का संकल्प उच्चतर उद्गमों से काम-केन्द्रों तथा जननेन्द्रियों पर क्रिया कर सकता है जिससे स्थूल काम-आवेग अथवा उद्दीपन को दृढ़तापूर्वक रोका जा सके तथा पाशविक उत्तेजना या कामना की पूर्ति के स्थान पर उनका उपयोग तात्त्विक ऊर्जा, **ओजस्** के संग्रहण, उत्पादन तथा मस्तिष्क, हृदय और प्राणिक शक्ति की दिशा में मोड़ने के लिए किया जा सके। इसमें मन, आत्मा तथा उच्चतर प्राणिक शक्तियों के कार्य को समर्थन मिल सकता है तथा निम्नतर वस्तुओं पर ऊर्जा के व्यय को सीमित किया जा सकता है। आत्मा, चैत्य पुरुष अधिक आसानी से प्रकाश से सबको परिपूर्ण कर सकता है और शरीर के जड़-द्रव्य तक को अपने महत्तर उद्देश्य के लिए उच्चतर उपयोग में ला सकता है।

यह पहला प्रभावशाली परिवर्तन होगा, किन्तु इतना ही सब कुछ नहीं होगा जितना सम्भव या वाञ्छनीय है। क्योंकि ऐसा हो सकता है कि क्रमविकासात्मक आवेग स्वयं अंगों की भौतिक कार्य-प्रणाली तथा उपयोग में परिवर्तन की ओर बढ़े तथा उनके उपयोग की आवश्यकता को कम कर दे या यहाँ तक कि उनकी बिलकुल ज़रूरत ही न पड़े। सूक्ष्म शरीर में स्थित केन्द्र—जिनके प्रति व्यक्ति सचेतन हो जायेगा और यह जान लेगा कि उसमें क्या हो रहा है—भौतिक स्नायु, चक्र, कोशिका में अपनी शक्तियाँ उँडेल देंगे तथा पूरे भौतिक शरीर में कान्ति भर देंगे। इस नये अस्तित्व में सम्पूर्ण भौतिक जीवन तथा इसकी आवश्यक गतिविधियों को इन उच्चतर माध्यमों द्वारा एक मुक्ततर तथा प्रचुरतर विधि से तथा कम बोझिल और कम प्रतिबन्धित तरीके से सञ्चालित किया जायेगा। यहाँ तक कि ये अंग अपरिहार्य नहीं रहेंगे बल्कि अत्यधिक बाधक बन जायेंगे। केन्द्रीय शक्ति धीरे-धीरे उनका प्रयोग कम कर देगी और अन्ततः उनका प्रयोग एकदम बन्द कर देगी। यदि ऐसा हुआ तब वे धीरे-धीरे क्षीण होकर नगण्य अथवा बिलकुल लुप्त हो जायेंगे। केन्द्रीय शक्ति उनके स्थान पर एक अत्यन्त भिन्न प्रकृति के सूक्ष्म अंगों का सृजन करेगी अथवा यदि कुछ भौतिक चीज़ की आवश्यकता हुई तब वे उपकरण वर्तमान अंगों के स्थान पर गत्यात्मक रूप अथवा नमनीय प्रेषक होंगे।

यह शरीर के सर्वोच्च समग्र रूपान्तरण का एक भाग हो सकता है, यद्यपि यह भी अन्तिक नहीं होगा। ऐसे परिवर्तनों की सम्भावना देखना बहुत दूर तक आगे की ओर देखना होगा। और चीज़ों के वर्तमान रूप से अभ्यस्त मन उनकी सम्भावना में विश्वास नहीं कर पायेंगे। क्रमविकासात्मक आवेग पर किसी अनिवार्य परिवर्तन की कोई ऐसी सीमा तथा ऐसी असम्भावना नहीं आरोपित की जा सकती। मौलिक रूप से सब कुछ परिवर्तित नहीं होगा। इसके विपरीत, समग्रता में जिसकी अब भी ज़रूरत है उस सबको सुरक्षित रखा जायेगा, परन्तु सबको पूर्ण बनाना होगा। क्रमविकास के उद्देश्य से चेतना की वृद्धि, उसके विस्तारण, ऊर्ध्वारोहण के लिए जो भी आवश्यक होगा, जो यहाँ केन्द्रीय संकल्प तथा लक्ष्य प्रतीत होता है, उसे अथवा इसके साध्यकारी साधन की प्रगति तथा पर्यावरण के संरक्षण को बनाये रखना होगा तथा आगे बढ़ाना

होगा। परन्तु जो कुछ छोड़ा जा सकता है, जिसका अब कोई उपयोग नहीं है अथवा जो विकृत हो गया है, जो बाधक बन गया है उसे हटा देना होगा और मार्ग में ही छोड़ देना होगा। शरीर के क्रमिक विकास के प्रारम्भिक रूपों से लेकर सर्वाधिक विकसित प्ररूप, मानव तक के इतिहास से यह स्पष्ट है। तब कोई कारण नहीं है कि क्यों मानव से दिव्य शरीर में पारगमन की प्रक्रिया में यह लागू न हो। पृथ्वी पर एक दिव्य शरीर की अभिव्यक्ति अथवा उसके निर्माण के लिए एक प्रारम्भिक रूपान्तरण, एक नवीन, महत्तर तथा अधिक विकसित प्ररूप होना ही चाहिये न कि उसके वर्तमान भौतिक रूप तथा इसकी सीमित सम्भावनाओं में थोड़े-बहुत संशोधन के साथ उसे बनाये रखा जाये। जिसे संरक्षित करना है उसे सचमुच संरक्षित रखना ही होगा और इसका अर्थ है कि पृथ्वी पर नये जीवन के लिए जो कुछ आवश्यक है अथवा बहुत उपयोगी है, जिसकी अब भी ज़रूरत है और जो अपने उद्देश्य की पूर्ति करेगा, परन्तु अभी अपूर्ण है, उसे रखना होगा और पूर्ण बनाना होगा। जो कुछ नये उद्देश्यों के लिए अब उपयोगी नहीं है अथवा जब वह अशक्य हो तब उसे छोड़ देना होगा। जड़-पदार्थ के अनिवार्य रूपों तथा उपकरणीयताओं को बनाये रखना ही होगा क्योंकि जड़-पदार्थ के जगत् में ही दिव्य जीवन को अभिव्यक्त होना है, परन्तु उनकी भौतिकता को परिष्कृत, उत्थापित, प्रतिष्ठित, ज्योतिर्मय बनाना होगा क्योंकि जड़-पदार्थ तथा जड़-पदार्थ के जगत् को ही संवर्धित रूप से अन्तर्वासी आत्मन् को अभिव्यक्त करना है।

नवीन प्ररूप, दिव्य शरीर को, अब तक क्रमिक रूप से विकसित रूप को बनाये रखना होगा। उस प्ररूप के साथ निरन्तरता बनाये रखनी होगी जिसे प्रकृति अब तक विकसित करती रही है—एक ऐसी निरन्तरता जो मानव शरीर से दिव्य शरीर तक जाये, जिससे किसी अनभिज्ञेय के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न हो जाये बल्कि उसके साथ एक उच्च निरन्तरता बन जाये जिसे उपलब्ध किया जा चुका है और आंशिक रूप से पूर्ण बनाया जा चुका है। मानव शरीर के कुछ भाग तथा उपकरण पर्याप्त रूप से इतने विकसित किये जा चुके हैं कि वे दिव्य जीवन की आवश्यकता पूरी कर सकें। उन्हें अपने रूप में बने रहना होगा, यद्यपि उन्हें और अधिक पूर्ण बनाना होगा, उनकी पहुँच तथा उपयोग की सीमाओं को, उनके दोषों को दूर करना होगा, संज्ञान तथा गत्यात्मक क्रिया की उनकी क्षमताओं को और बढ़ाना होगा। शरीर को ऐसी नयी शक्तियाँ अर्जित करनी होंगी जिन्हें हमारी वर्तमान मानवता सिद्ध करने की आशा नहीं कर सकती, उसका सपना भी नहीं देख सकती या कल्पना भी नहीं कर सकती। आविष्कृत उपकरणों तथा यन्त्रों के उपयोग द्वारा जो कुछ अब जाना जा सकता है, क्रियान्वित या सृजित किया जा सकता है उसका अधिकांश नये शरीर के द्वारा अपनी शक्ति से अथवा अन्तर्वासी आत्मन् द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्ति से उपलब्ध किया जा सकता है। शरीर स्वयं अन्य शरीरों के साथ सञ्चार के नये साधन तथा प्रभाव-क्षेत्र, ज्ञान प्राप्त करने की नयी प्रक्रियाएँ, एक नवीन सौन्दर्य-बोध तथा स्वयं को और वस्तुओं को नियन्त्रित करने की नयी सामर्थ्य अर्जित कर सकता है। हो सकता है कि दूर को निकट बनाने और दूरी को समाप्त करने, शरीर के ज्ञानाधिकार

से परे को जानने, क्रिया के क्षेत्र से अभी बाहर की वस्तु अथवा इसके क्षेत्र पर क्रिया करने, भौतिक ढाँचे के लिए आवश्यक स्थिरता की वर्तमान स्थिति में असम्भव लगने वाली सूक्ष्मता तथा नमनीयता को विकसित करने के लिए अपने ही गठन, तत्त्व या स्वाभाविक यान्त्रिकता में यह साधन को प्राप्त या रहस्य को उद्घाटित कर ले। ये सब तथा अन्य असंख्य सम्भावनाएँ प्रकट हो सकती हैं तथा शरीर एक ऐसा अमापनीय उत्कृष्ट उपकरण बन सकता है जिसकी सम्भावना की हम कल्पना तक नहीं कर सकते। हो सकता है कि पहले बोधगम्य सत्य-चेतना से अतिमानस की आरोही श्रेणियों की उच्चतम ऊँचाई तक विकास हो और यह स्वयं वास्तविक अतिमानस की सीमाओं से गुज़रे जहाँ यह एक ऐसे जीवन के व्यक्त रूपों को आभासित करे, विकसित करे, चित्रित करे जिसमें परम शुद्ध सत्, चित् तथा आनन्द का स्पर्श हो जिनसे सत्, तपस् की गत्यात्मकता, आनन्द की महिमा और माधुर्य, निरपेक्ष तत्त्व तथा सर्व-सर्जनात्मक आनन्द के उच्चतम सत्य के लोकों का निर्माण हुआ है। भौतिक सत्ता का रूपान्तरण प्रगति की इस सतत रेखा का अनुसरण कर सकता है तथा दिव्य शरीर पृथ्वी पर आत्माभिव्यक्त करते हुए आत्मन् की कुछ इसी प्रकार की उच्चतम महानता तथा महिमा को प्रतिबिम्बित अथवा प्रतिरूपायित कर सकता है।

CWSA खण्ड १३, पृ.५४७-५७

—श्रीअरविन्द

## एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र

*माताजी, क्या अपने अन्दर रोगमुक्त करने की क्षमता विकसित करना सम्भव है?*

सिद्धान्त रूप में, सचेतन रूप से दिव्य शक्ति के साथ एक होने से सब कुछ सम्भव है।

लेकिन उपाय खोजना होगा और यह व्यक्ति और स्थिति पर निर्भर करता है।

पहली शर्त है ऐसी भौतिक प्रकृति का होना जो ओरों से ऊर्जा खींचने की जगह ऊर्जा देती है।

दूसरी अनिवार्य शर्त है यह जानना कि ऊपर से, अक्षय, निर्वैयक्तिक स्रोत से ऊर्जा को कैसे खींचा जाये।

१२ जनवरी १९७२

इस तरीके से व्यक्ति जितना अधिक खर्च करता है उतना अधिक पाता है, और एक ऐसा बर्तन बनने की जगह जो अपने-आपको देकर खाली कर लेता है, एक अक्षय धारा बन जाता है।

दृढ़ अभीप्सा द्वारा ही व्यक्ति सीखता है।

१३ जनवरी १९७२

सुखी तथा सफल जीवन के लिए सच्चाई, नम्रता, अध्यवसाय और प्रगति के लिए कभी न बुझने वाली प्यास ज़रूरी हैं। सबसे बढ़ कर यह कि तुम्हें विश्वास हो कि प्रगति की सम्भावना असीम है। प्रगति यौवन है; तुम सौ वर्ष की उम्र में भी युवक हो सकते हो।

१४ जनवरी १९७२

जब शरीर वर्धनशील पूर्णता की ओर सतत प्रगति करने की कला सीख ले तो हम मृत्यु की अनिवार्यता पर विजय पाने के पथ पर अग्रसर होंगे।

१६ जनवरी १९७२

अगर चेतना के विकास को जीवन का मुख्य उद्देश्य मान लिया जाये तो बहुत-सी कठिनाइयों को अपना समाधान मिल जायेगा।

बूढ़ा होने से बचने का सबसे अच्छा उपाय है प्रगति को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना।

१८ जनवरी १९७२

सदा सीखना, बौद्धिक नहीं मनोवैज्ञानिक रूप से, स्वभाव में प्रगति करना, अपने अन्दर गुण पैदा करना और दोष ठीक करना ताकि हर चीज़ हमें अज्ञान और अक्षमता से मुक्त करने के लिए अवसर हो सके—तब जीवन बहुत अधिक रुचिकर और जीने-योग्य बन जाता है।

२७ जनवरी १९७२

श्रीअरविन्द धरती पर अतिमानसिक जगत् की अभिव्यक्ति की घोषणा करने आये। उन्होंने केवल अभिव्यक्ति की यह घोषणा ही नहीं की बल्कि आंशिक रूप से अतिमानसिक शक्ति को मूर्त रूप भी दिया और हमारे आगे उदाहरण रखा कि हमें अपने-आपको इस अभिव्यक्ति के लिए तैयार करने के लिए क्या करना चाहिये। जो सबसे अच्छी चीज़ हम कर सकते हैं वह यह है कि उन्होंने हमसे जो कुछ कहा है उस सब का अध्ययन करें, उनके उदाहरण का अनुसरण करने की कोशिश करें और अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिए तैयार करें।

इससे जीवन को अपना सच्चा अर्थ मिलता है और यह हमें सभी विघ्न-बाधाओं को जीतने में सहायता देगा।

आओ, हम नयी सृष्टि के लिए जियें और हम युवा रहते और प्रगति करते हुए अधिकाधिक मज़बूत बनते जायेंगे।

३० जनवरी १९७२

वे ऊर्जाएँ जिनका उपयोग मनुष्य प्रजनन के लिए करते हैं और जिनका उनके जीवनों में इतना अधिक महत्त्व है, उनका इसके विपरीत, उदात्तीकरण करके, प्रगति और उच्चतर विकास

के लिए उपयोग होना चाहिये ताकि नयी जाति के आगमन की तैयारी हो। लेकिन उससे पहले प्राण और भौतिक को समस्त कामनाओं से मुक्त होना चाहिये अन्यथा महाविपदा को निमन्त्रण देना समझो।

३१ जनवरी १९७२

पहली चीज़ जो भौतिक चेतना को समझनी चाहिये वह यह है कि जीवन में हमें जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वे सब इस तथ्य से आती हैं कि हमें जिस सहायता की आवश्यकता है उसके लिए हम ऐकान्तिक रूप से भगवान् पर निर्भर नहीं रहते।

केवल भगवान् ही हमें वैश्व प्रकृति की यान्त्रिकता से मुक्त कर सकते हैं। और यह मुक्ति नयी जाति के जन्म और विकास के लिए अनिवार्य है।

पूर्ण विश्वास और कृतज्ञता के साथ अपने-आपको पूरी तरह भगवान् के अर्पण करने से ही कठिनाइयों पर विजय मिलेगी।

१ फ़रवरी १९७२

जीवन में शान्ति और आनन्द के लिए आवश्यक शर्त है पूरी सच्चाई के साथ वही चाहना जो भगवान् चाहते हैं। लगभग सभी मानव दुर्गतियाँ इस तथ्य से आती हैं कि हमें प्रायः हमेशा यह विश्वास होता है कि हम भगवान् की अपेक्षा ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि हमें क्या चाहिये और जीवन को हमें क्या देना चाहिये। अधिकतर मनुष्य चाहते हैं कि दूसरे मनुष्यों को उनकी प्रत्याशाओं की पुष्टि करनी चाहिये और परिस्थितियों को उनकी कामनाओं की पुष्टि करनी चाहिये—इसीलिए वे कष्ट भोगते और दुःखी रहते हैं।

कामनाओं के लोप से जो शान्ति और निश्चल आनन्द प्राप्त होता है वह तभी आता है जब हम अपने-आपको पूरी सच्चाई के साथ भागवत इच्छा के अर्पण कर देते हैं।

चैत्य सत्ता इस बात को निश्चय के साथ जानती है; इसलिए अपने चैत्य के साथ एक होकर हम उसे जान सकते हैं। लेकिन पहली शर्त है अपनी कामनाओं के आधीन न होना और उन्हें अपनी सत्ता का सत्य न मान बैठना।

४ फ़रवरी १९७२

हर एक के लिए पहली आवश्यकता है उसका अपना रूपान्तर और जगत् की सहायता करने का सबसे अच्छा तरीका है स्वयं भगवान् को उपलब्ध करना।

५ फ़रवरी १९७२

हमारी सत्ता की गहराइयों में, चिन्तन की नीरवता में एक ज्योतिर्मयी शक्ति हमारी चेतना में एक विशाल और ज्योतिर्मयी शान्ति की बाढ़ ले आती है जो सभी तुच्छ प्रतिक्रियाओं पर

छा जाती है और हमें भगवान् के साथ ऐक्य के लिए तैयार करती है—जो वैयक्तिक जीवन का एकमात्र प्रयोजन है।

६ फ़रवरी १९७२

अतः, जीवन का प्रयोजन और उद्देश्य दुःख और संघर्ष नहीं बल्कि एक सर्वशक्तिमान् और सुखी उपलब्धि है।

बाक़ी सब कुछ दुःखद भ्रम है।

७ फ़रवरी १९७२

जब पहले मानवजाति की रचना हुई तो अहंकार एक करने वाला उपकरण था। सत्ता की विभिन्न अवस्थाएँ अहं के चारों ओर वर्गीकृत थीं; लेकिन अब जब अतिमानवता के जन्म की तैयारी हो रही है, अहंकार को लुप्त होना और चैत्य सत्ता को स्थान देना होगा जो धीरे-धीरे भागवत हस्तक्षेप द्वारा मानव सत्ता में भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए निर्मित हो चुकी है।

चैत्य के प्रभाव तले ही भगवान् मनुष्य में अभिव्यक्त होते हैं और इस तरह अतिमानवता के आगमन की तैयारी करते हैं।

चैत्य अमर है और चैत्य द्वारा धरती पर अमरता को प्रकट किया जा सकता है।

तो अब महत्त्वपूर्ण कार्य है अपने चैत्य को पाना, उसके साथ एक होना और उसे अहंकार का स्थान लेने देना। अहंकार या तो परिवर्तित होने या लुप्त हो जाने के लिए बाधित होगा।

८ फ़रवरी १९७२

पथ पर मनुष्य जो पहली चीज़ सीखता है वह यह है कि देने का आनन्द पाने के आनन्द से कहीं अधिक बढ़ कर है।

तब व्यक्ति धीरे-धीरे सीखता है कि अपने-आपको भूल जाना निर्विकार शान्ति का स्रोत है। बाद में, इस आत्म-विस्मृति में वह भगवान् को पाता है और यही सदा बढ़ते रहने वाले आनन्द का स्रोत है।

श्रीअरविन्द ने एक दिन मुझसे कहा था कि अगर मनुष्य यह जान लें और उन्हें इस पर विश्वास हो जाये तो वे सब-के-सब योग करना चाहेंगे।

९ फ़रवरी १९७२

मानव चेतना इतनी ज़्यादा भ्रष्ट है कि मनुष्य भगवान् के प्रति सच्चे समर्पण से प्राप्त होने वाले ज्योतिर्मय आनन्द की अपेक्षा अहंकार के दुःख-दैन्य और उसके अज्ञान को अधिक पसन्द करते हैं। उनका अन्धापन इतना अधिक है कि वे परीक्षण करने से भी इन्कार करते हैं और दुःख-दैन्य से पिण्ड छुड़ाने के लिए प्रयास करने की अपेक्षा अपने अहं के आधीन होना

ज़्यादा पसन्द करेंगे।

वे इतने अन्धे हैं कि अपने-आपको भगवान् के अर्पित न करना पड़े इसके लिए, यदि सम्भव हो तो वे भगवान् को अपने अहंकार का दास बनाने में भी संकोच न करेंगे।

१० फ़रवरी १९७२

परम प्रभो, हमें नीरव होना सिखला। इस नीरवता में हम तेरी शक्ति पा सकें और तेरी इच्छा को समझ सकें।

११ फ़रवरी १९७२

हम भगवान् के सच्चे सेवक बनना चाहते हैं।

“परम प्रभो, पूर्ण चेतना, केवल तुम ही सचमुच जानते हो कि हम क्या हैं; हम क्या कर सकते हैं, हमें जैसे तुम्हारी सेवा करनी चाहिये उस तरह करने के योग्य बनने के लिए हमें क्या प्रगति करनी चाहिये। हमें अपनी सम्भावनाओं के बारे में सचेतन बनाओ, साथ ही हमारी कठिनाइयों के बारे में भी, ताकि हम निष्ठा के साथ तुम्हारी सेवा करने के लिए उन पर विजय पा सकें।”

परम सुख है भगवान् का सच्चा सेवक बनने में।

१४ फ़रवरी १९७२

जो लोग हमेशा प्रगति करते रहना चाहते हैं उनके लिए प्रगति करने के तीन मुख्य मार्ग हैं :

१. अपनी चेतना के क्षेत्र को विस्तृत करना।
२. हम जो कुछ जानते हैं उसे ज़्यादा अच्छी तरह और ज़्यादा पूर्णता के साथ समझना।
३. भगवान् को पाना और उनकी इच्छा के प्रति अधिकाधिक समर्पण करना।

दूसरे शब्दों में इसका अर्थ हुआ :

१. यन्त्र की क्षमताओं को सदा समृद्ध करते रहना।
२. इस यन्त्र की क्रियाशीलता को सदा बिना रुके पूर्ण बनाते रहना।
३. इस यन्त्र को भगवान् के प्रति अधिकाधिक ग्रहणशील और आज्ञाकारी बनाते रहना। अधिकाधिक चीज़ों को समझना और करना सीखना। अपने-आपको ऐसी चीज़ों से दूर रखते हुए शुद्ध रखना जो तुम्हें भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण करने से रोकती हैं। अपनी चेतना को भागवत प्रभाव के प्रति अधिकाधिक सचेतन और ग्रहणशील बनाना।

हम कह सकते हैं : अपने-आपको अधिकाधिक विस्तृत करना, अपने-आपको अधिकाधिक गहरा बनाना, अपने-आपको अधिकाधिक पूर्णतया अर्पित करना।

१५ फ़रवरी १९७२

जिसे सामान्यतः निष्ठा कहा जाता है वह है सतर्कता के साथ अपने दिये हुए वचनों को निभाना। लेकिन एकमात्र सच्ची दृढ़ निष्ठा है भगवान् के प्रति निष्ठा—और हम सबको सच्चे और अविच्छिन्न प्रयास के साथ इसी निष्ठा को पाना चाहिये।

जब सारी सत्ता, अपने सभी भागों और सभी क्रियाओं में समस्त सच्चाई के साथ कह सके :  
“तुम जो चाहो, तुम जो चाहो”,  
तब तुम सच्ची निष्ठा के मार्ग पर होते हो।

१७ फ़रवरी १९७२

धरती पर जीवन तत्त्वतः प्रगति का क्षेत्र है लेकिन जो कुछ प्रगति करनी है उसके लिए जीवन कितना छोटा है !

अपनी तुच्छ कामनाओं को सन्तुष्ट करने में अपना समय बरबाद करना निरी मूर्खता है। सच्चा सुख तभी मिल सकता है जब तुम भगवान् को पा लो।

१९ फ़रवरी १९७२

परम प्रभो ! ऐसी पूर्णता जो हमें बनना है, ऐसी पूर्णता जिसे हमें अभिव्यक्त करना है।

यह शरीर तुम्हारे द्वारा ही जीवित है और बारम्बार तुमसे कहता है :

“जो तुम चाहो, जो तुम चाहो”

उस दिन तक जब वह स्वतः ही जान सकेगा कि तुम्हारी इच्छा क्या है क्योंकि उसकी इच्छा पूरी तरह तुम्हारी इच्छा के साथ एक होगी।

२३ फ़रवरी १९७२

वर दो कि मैं तुम्हारी उपस्थिति के बारे में सचेतन हो सकूँ।

९ मार्च १९७२

प्रभो ! हम अनुभव करते हैं कि हमारे अन्दर कोई भी चीज़ तुम्हारी उपस्थिति को अस्वीकार न करे और हम वही बन सकें जो तुम हमें बनाना चाहते हो; वर दो कि हमारे अन्दर सब कुछ तुम्हारी इच्छा का अनुमोदन करे।

१२ मार्च १९७२

प्रभो, हमें अपने चिन्तन की नीरवता प्रदान करो, ऐसी नीरवता जो तुम्हारी प्रभावी उपस्थिति से भरपूर हो।

१३ मार्च १९७२



वर दो कि हमारी नीरवता तुम्हारी उपस्थिति से भर जाये और हम उसके बारे में पूरी तरह सचेतन हों।

वर दो कि हम जान सकें कि तुम ही हमारा जीवन हो, हमारी चेतना और हमारी सत्ता हो, और तुम्हारे बिना सब कुछ भ्रान्ति है।

१४ मार्च १९७२

वर दो कि हम तुम्हारी शाश्वत चेतना के साथ एकात्म हो सकें ताकि हम सचमुच जान सकें कि अमरता क्या है।

१६ मार्च १९७२

अमरता की तैयारी के लिए शरीर की चेतना को अपने-आपको पहले शाश्वत चेतना के साथ एकात्म करना चाहिये।

१७ मार्च १९७२

एक पन्द्रह वर्ष की लड़की ने पूछा, “ ‘सत्य’ क्या है ?”  
मैंने उत्तर दिया, “परम प्रभु की इच्छा।”  
यह चिन्तनात्मक ध्यान के लिए विषय है।

१८ मार्च १९७२

जिस सत्य को जानने के लिए मनुष्य ने व्यर्थ की खोज की है वह नयी जाति का, कल की जाति का, अतिमानव का जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

सत्य के अनुसार जीना उसका जन्मसिद्ध अधिकार होगा।

आओ, हम ‘नयी सत्ता’ के आने की तैयारी के लिए अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करें। मन को निश्चल-नीरव होना चाहिये, उसका स्थान सत्य चेतना—ब्योरों की चेतना के साथ समस्वर समग्र की चेतना—ले ले।

१९ मार्च १९७२

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. ४८२-९०

## कठिनाइयाँ तथा सूर्यालोकित पथ

श्रीमाँ ने मुझसे तनावरहित और विकाररहित उचित मनोवृत्ति के बारे में कहा है, ऐसी मनोवृत्ति जो सूर्यालोक से भरपूर हो, जो पुष्प की भाँति प्रकाश की ओर खुलती हो। यह सब आप तथा श्रीमाँ जैसी सत्ताओं के लिए बहुत ठीक है, जो अवतार हैं, लेकिन हम बेचारे नश्वर मनुष्यों के पथ-प्रदर्शन के लिए आपका यह अस्पष्ट नुस्खा किस काम का?

और फिर इस मनोवृत्ति को तो बस सतत प्रार्थना, श्रमसाध्य ध्यान तथा गलत गतियों को अस्वीकारने के निरन्तर प्रयास के अलावा और कैसे पाया जा सकता है भला?

तुम कहते हो कि तुम्हारे लिए यह पथ बहुत कठिन है या तुम्हारी प्रकृति के अनुकूल नहीं है, साथ ही तुम्हारा यह कहना भी है कि मेरे या माताजी के जैसे “अवतार” ही यह कर सकते हैं। यह बड़ी अजीब-सी भ्रान्त धारणा है; क्योंकि, इसके विपरीत, यह पथ सबसे सरल, सबसे सहज और सबसे ऋजु पथ है, और कोई भी व्यक्ति—अगर वह अपने मन और अपने प्राण को शान्त कर ले—इसका अनुसरण कर सकता है, यहाँ तक कि वे भी जिनके अन्दर तुमसे दसगुनी कम क्षमता है, इसे कर सकते हैं। तनाव, दबाव और घोर परिश्रम का दूसरा पथ सचमुच कठिन होता है और उसमें तपस्या की महान् शक्ति की आवश्यकता होती है। रही बात माताजी और मेरी, तो हमें सभी पथों को आजमाना पड़ा, सभी प्रक्रियाओं का अनुसरण करना पड़ा, कठिनाइयों के पहाड़ों को लाँघना पड़ा, तुमसे या आश्रम अथवा बाहर के किसी भी व्यक्ति से कहीं ज़्यादा भारी बोझ कठिनतम परिस्थितियों में ढोना पड़ा, घाव सहने पड़े, अगम्य दलदलों, तपते रेगिस्तानों और बीहड़ जंगलों से रास्ता निकालना पड़ा, विरोधी शक्तियों की राशि पर विजय पानी पड़ी, मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि हमें ऐसे-ऐसे कार्य करने पड़े जैसे हमसे पहले किसी को नहीं करने पड़े। क्योंकि हमारे जैसे कार्य में पथ-प्रदर्शक को न केवल भगवान् को नीचे लाना, उनका प्रतिनिधित्व करना, उन्हें मूर्त रूप देना होता है, बल्कि मानवता के अभीप्सा करने वाले, यानी आरोहणकारी तत्त्व का भी प्रतिनिधित्व करना होता है, मानवता के बोझ को पूरी तरह से अनुभव करना होता है, मात्र लीला के तौर पर नहीं बल्कि कठोर गाम्भीर्य के साथ जीवन की सभी बाधाओं, मुसीबतों, अडुंगों का सामना करना होता है, केवल तभी घोर परिश्रम के साथ पथ पर चलना सम्भव होता है। लेकिन न यह आवश्यक है न सह्य कि हम हमसे पहले आये लोगों की सम्पूर्ण अनुभूति को पहले दोहरायें। चूँकि सम्पूर्ण अनुभूति प्राप्त है इसलिए हम औरों को ऋजु तथा सरल पथ दर्शा सकते हैं—अगर वे इसे अपनाना चाहें

तो अपनायें। चूँकि हमने यह अनुभूति बहुत मूल्य देकर पायी है कि हम तुम्हें और दूसरों को प्रेरित कर बलपूर्वक कह सकते हैं कि “चैत्य मनोभाव अपनाओ; ऋजु तथा सूर्यालोकित पथ पकड़ो—भगवान् प्रकट या गुप्त रूप से तुम्हें सहारा दे रहे हैं—अगर गुप्त रूप से भी दे रहे हों तो उचित समय पर वे स्वयं को तुम्हारे सम्मुख प्रकट करेंगे—कठोर, बाधायुक्त, चक्करदार और कठिन पथ अपनाने का आग्रह मत करो।”

CWSA खण्ड ३२, पृ. ९४-९५

तुम्हारा यह सोचना बहुत बड़ी भूल है कि सूर्यालोकित पथ की सम्भावना मेरी खोज या मूलतः मेरा आविष्कार है। तीस साल से अधिक अरसे पहले मैंने योग की जो पहली पुस्तकें पढ़ी थीं, उनमें अन्धकार और प्रकाश के पथों की बात थी और सूर्यालोकित पथ को वरतर बता कर उस पर ज़ोर दिया गया था।

अब मैं स्वयं सूर्यालोकित पथ पर काफ़ी आगे बढ़ चला हूँ, और साथ ही मैं कठिनाई, दुःख-दर्द और ख़तरों से कभी पीछे नहीं हटा हूँ। सभी तरह की कठिनाइयों का पूरा भाग मेरे पल्ले आ चुका है और श्रीमाँ ने तो मुझसे दसगुनी ज़्यादा कठिनाइयाँ झेली हैं! इसका यही कारण है कि पथ खोजने वालों को सभी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है ताकि वे उन पर विजय पा सकें। ऐसी कोई कठिनाई नहीं है जो साधक के सामने मुँह बाये आ खड़ी हो और जिसे पथ पर हमने नहीं झेला हो; कई कठिनाइयों को जीतने से पहले हमें उनसे सौ-सौ बार लोहा लेना पड़ा है (वस्तुतः, यह तो मैं कम करके कह रहा हूँ); कई अभी तक यह कह कर डटी हुई हैं कि जब तक सम्पूर्ण पूर्णता धरती पर नहीं उतर आती, वे बनी रहेंगी। लेकिन हमने कभी यह स्वीकार नहीं किया है कि दूसरों के लिए भी ये अनिवार्य हैं। वास्तव में दूसरों का पथ सुगम बनाने के लिए हमने वह बोझ अपने कन्धों पर उठा लिया है। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए एक बार माँ ने प्रभु से प्रार्थना की थी कि पथ पर आने वाली सभी कठिनाइयाँ, ख़तरे, दुःख-दर्द दूसरों पर आने की बजाय उन पर आ जायें। अब तक प्रभु ने उनकी सुनी है; यही कारण है कि जिन्होंने अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा उन पर बनाये रखी है उनके सभी दैनन्दिन दुःख-कष्टों को वे बरसों से अपने ऊपर लिये हुए हैं ताकि वे सूर्यालोकित पथ का अनुसरण कर सकें, और जो उस पथ पर भले न चल पायें, लेकिन अपना सारा विश्वास माँ पर बनाये रखें, वे अचानक अपने पथ को आसान पायेंगे; और अगर वह फिर से मुश्किल बन जाये तो उन्हें समझ जाना चाहिये कि अविश्वास, विद्रोह, अभिमान और अन्धकार उन पर हावी हो रहे हैं। सूर्यालोकित पथ कपोल-कल्पना नहीं, सच्चाई है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. ९७

श्रीअरविन्द

## विद्यार्थियों को सलाह

११ से १३ वर्ष की अवस्था के बच्चों की पढ़ाई में मुख्य रूप से किस बात पर ध्यान देना चाहिये?

सबसे महत्वपूर्ण बात जो उन्हें सिखानी चाहिये वह है सच्चे और निष्कपट होने की परम आवश्यकता।

समस्त असत्य को, चाहे वह कितना भी कम क्यों न हो, अस्वीकार करो।

उन्हें सदा प्रगति करते रहना भी सिखाना चाहिये, क्योंकि जैसे ही कोई प्रगति करना बन्द कर देता है, वैसे ही वह पीछे गिर जाता है और यह क्षय का आरम्भ है।

\*

सच्चा बल और सुरक्षा हृदय में स्थित भागवत उपस्थिति से आते हैं।

अगर तुम इस 'उपस्थिति' को हमेशा अपने अन्दर रखना चाहो तो सावधानी के साथ वाणी, आचार और क्रिया से समस्त अशिष्टता और गँवारूपन को दूर रखो।

स्वाधीनता को स्वच्छन्दता और आज्ञादी को अभद्र व्यवहार न मान बैठो : विचार शुद्ध होने चाहिये और अभीप्सा तीव्र।

२६ फ़रवरी १९६५

\*

क्या यह जो इतनी अधिक स्वाधीनता हमें दी गयी है वह उन लोगों के लिए खतरनाक नहीं है जो अभी तक जाग्रत नहीं हैं, जो अभी तक अचेतन हैं? किस बिरते पर हमें यह सौभाग्य प्रदान किया गया है?

संकट और जोखिम प्रगति का भाग होते हैं। उनके बिना, कभी कोई चीज़ आगे न बढ़ेगी; इसके अतिरिक्त, ये उन लोगों के चरित्र-निर्माण के लिए अनिवार्य हैं जो प्रगति करना चाहते हैं।

१३ अप्रैल १९६६

\*

कक्षा में शोर मचाना स्वार्थपूर्ण मूढ़ता का कार्य है।

अगर तुम चुपचाप ध्यान देकर कक्षा में उपस्थित होने का इरादा नहीं रखते तो न आना ज़्यादा अच्छा है।

**बच्चों से कुछ बातें**

१. अगर तुम यह नहीं चाहते कि दूसरे तुम्हारा मज़ाक उड़ायें तो तुम भी औरों का मज़ाक न उड़ाओ।

२. अगर तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारा सम्मान करें तो तुम भी हमेशा सम्माननीय ढंग से काम करो।

३. अगर तुम चाहते हो कि सब तुमसे प्यार करें तो तुम भी सबसे प्यार करो।

\*

चूँकि यहाँ लड़के-लड़कियाँ एक साथ पढ़ते हैं इसलिए हमने हमेशा आग्रह किया है कि उनके आपसी सम्बन्ध सामान्य साथियों जैसे हों जिनमें सेक्स या कामुकता का कोई स्थान न हो; और सब प्रकार के प्रलोभनों से बचने के लिए उन्हें एक-दूसरे के कमरे में जाने या अकेले में गुप्त रूप से मिलने के लिए मना किया गया है। यह हर एक के आगे स्पष्ट कर दिया गया है। और अगर इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाये तो कोई अप्रिय चीज़ नहीं हो सकती।

१६ अगस्त १९६०

\*

मैं पहले ही तुम सबसे कह चुकी हूँ कि यह न सोचो कि तुम लड़के हो या लड़की। अपने-आपको मानव सत्ताएँ मानो जो समान रूप से भगवान् को पाने, वही होने और उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

१६ फ़रवरी १९६६

\*

*कुछ अच्छे विद्यार्थी धन को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि सुन कर एक धक्का लगता है। क्या हम इस विषय पर बातचीत कर सकते हैं?*

हाँ, कोशिश करो—इसकी बहुत अधिक ज़रूरत है। ऐसा लगता है कि आजकल धन ही परम प्रभु बन गया है—सत्य पृष्ठभूमि में हटता जा रहा है, रहा प्रेम, वह तो बिलकुल अदृश्य है!

मेरा आशय है भागवत प्रेम से, क्योंकि मनुष्य जिसे प्रेम कहते हैं वह तो धन का बड़ा अच्छा मित्र है।

\*

*माताजी, यहाँ अध्यापकों और कप्तानों के प्रति हमारी क्या वृत्ति होनी चाहिये?*

आज्ञाकारी, विनीत और स्नेहभरी वृत्ति। वे तुम्हारे बड़े भाई या बड़ी बहनें हैं जो तुम्हारी सहायता करने के लिए बहुत कष्ट उठाते हैं। आशीर्वाद।

१ फ़रवरी १९७०

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२ से

## श्रीमाँ की शरण में

श्रीमाँ श्रीअरविन्द की शिष्या नहीं हैं। उन्हें भी मेरी ही तरह वही अनुभूतियाँ और उपलब्धियाँ हुई हैं।

श्रीमाँ की साधना शुरू हुई जब वे बहुत छोटी थीं। जब वे बारह या तेरह वर्ष की थीं तो हर शाम अन्तर्दर्शन में बहुत से गुरु उनके पास आते और उन्हें विभिन्न आध्यात्मिक अनुशासन सिखाते थे। उनमें से एक थे श्याम-वर्ण के एशियाई आकार। जब हम पहली बार मिले तो उन्होंने तुरन्त मुझे उस श्याम-वर्ण के एशियाई आकार के रूप में पहचान लिया जिन्हें वे बहुत पहले से देखा करती थीं। उन्हें यहाँ आना था और मेरे साथ एक सामान्य लक्ष्य के लिए काम करना था—यह मानों भागवत विधान था।

भारत आने से पहले माताजी को बौद्ध योग और गीता के योग का पर्याप्त ज्ञान था। उनका योग एक महान् और विशाल सामञ्जस्य की ओर बढ़ रहा था। इसके बाद यह स्वाभाविक था कि वे यहाँ आतीं। मेरे योग को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने मेरी सहायता की और अब भी कर रही हैं। उनके सहयोग के बिना यह सम्भव न होता।

इस योग के दो महान् चरणों में से एक हैं, माताजी की शरण में जाना।<sup>१</sup>

१७ अगस्त १९४१

श्रीअरविन्द

## १२ मई १९५३ के वार्तालाप का एक अंश

जानते हो, भगवान् को जानने का बस एक ही तरीका है—अपने-आपको उनके साथ एक कर लेना। और कोई तरीका नहीं है, केवल एक, एक ही तरीका है। अतः, एक बार तुम तादात्म्य के इस तरीके में पारंगत हो जाओ तो तुम इस तरह अपने को तदात्म कर सकते हो। तुम तादात्म्य के लिए अपना विषय चुनते हो, तुम भगवान् के साथ एक होना चाहते हो। लेकिन जब तक तुम अपने को तदात्म करना नहीं जानते तब तक सैकड़ों चीजें तुम्हारे रास्ते में आयेंगी, तुम्हें इधर खींचेंगी, उधर खींचेंगी, तुम्हें बिखेर देंगी, और तुम 'उनके' साथ तादात्म्य न पा सकोगे। लेकिन अगर तुमने तादात्म्य करना सीख लिया है तो तुम्हें तादात्म्य को बस दिशा देनी होगी। फिर तुम उसे जिस दिशा में चलाना चाहते हो उस ओर कर दो और फिर लगे रहो जब तक कि परिणाम न मिल जाये। अगर तुम तादात्म्य की क्षमता में दक्ष हो तो परिणाम बहुत जल्दी आयेगा। हाँ, बहुत, बहुत जल्दी आयेगा। रामकृष्ण कहा करते थे कि समय

<sup>१</sup> जब किसी ने पूछा कि दूसरा चरण क्या है तो श्रीअरविन्द ने उत्तर दिया, “दिव्य जीवन के लिए साधक की अभीप्सा।”

तीन दिन, तीन घण्टे, तीन मिनट के बीच कुछ भी हो सकता है। बहुत सुस्त लोगों के लिए तीन दिन, तीन घण्टे उनके लिए जो ज़रा तेज़ हैं, और जो अभ्यस्त हैं, उनके लिए तीन मिनट।

*बहुत सुस्त लोगों के लिए तीन दिन?*

हाँ, बहुत सुस्त लोगों के लिए। उनसे पूछा गया था: “भगवान् के साथ एक होने में कितना समय लगता है?” तब उन्होंने यह उत्तर दिया था।

*इसका मतलब होगा कुछ भी किये बिना तीन दिन?*

नहीं, कुछ भी किये बिना नहीं। केवल भगवान् के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए कुछ भी न करना ज़रूरी नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि तुम तीन दिन तक बिना हिले-डुले, कुछ भी किये बिना बैठे नहीं रह सकते। अगर तुम यह कर सको तो इसका मतलब होगा कि तुम पहले से ही पूर्णता की एक असाधारण अवस्था प्राप्त कर चुके हो—अपनी सारी आवश्यकताओं को भूल कर तीन दिन बिना हिले-डुले रह सको। नहीं, उनका मतलब यह नहीं है; तुम्हारा विचार केवल भगवान् पर केन्द्रित रहे। और उन्होंने यह प्रमाणित करने के लिए कि वे जो कुछ कह रहे हैं वह सत्य है, उस आदमी के आगे यह कर दिखाया। इसमें उन्हें तीन मिनट से ज़्यादा नहीं लगे।

लेकिन, बस यही चीज़ है, अनुभूति में जो चीज़ बाधक होती है वह है एकाग्रता के अभ्यास का अभाव, और एकाग्रता का, उसके उद्देश्य और संकल्प का अभाव। तुम उसे एक मिनट, दो मिनट, चार मिनट, दस मिनट, पन्द्रह मिनट, एक घण्टे के लिए “चाहते” हो, और उसके बाद तुम बहुत सारी अन्य चीज़ें चाहते हो...। तुम उसके बारे में कुछ क्षणों के लिए “सोचते” हो और उसके बाद हज़ारों दूसरी चीज़ों के बारे में सोचते हो। इस तरह स्वभावतः तुम्हें अनन्त काल लग सकता है। क्योंकि वास्तव में इसमें तुम कुछ जोड़ नहीं सकते; अगर इसे रेत के कणों की तरह इकट्ठा किया जा सकता, अगर जब-जब तुम भगवान् के बारे में सोचो, उसी समय कहीं पर रेत का एक कण जमा कर दो तो कुछ समय के बाद एक पहाड़ बन सकता है। लेकिन ऐसा होता नहीं, यह बना नहीं रहता। उसका कोई परिणाम नहीं आता। यह इकट्ठा नहीं होता, तुम जमा नहीं कर सकते, मात्रा के हिसाब से प्रगति नहीं करते—तुम तीव्रता में प्रगति कर सकते हो, गुणवत्ता में प्रगति कर सकते हो। हाँ, तुम अपने अन्दर यह सीख सकते हो कि इसे कैसे किया जाये; परन्तु जो तुमने किया है उसकी गिनती बस इसी तरह होती है। यह बालू के टीले पर रेत के कणों की तरह इकट्ठा नहीं हो सकता। अन्यथा इतना काफ़ी होता कि तुम बहुत होशियार बन कर अपने-आपसे कहते: “हाँ, तो मैं रोज़ कम-से-कम दस विचार भगवान् को दूँगा।” और फिर, इसी तरह ऐसे छोटे-छोटे टुकड़ों से कुछ समय के बाद एक छोटी-सी पहाड़ी...।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ५, पृ. २४७-४९

## श्रीअरविन्द के उत्तर (७९)

यह तो कुछ अजीब ही बात है कि प्रणाम के दिनों की अपेक्षा सभी तरह से आज मैं कहीं अधिक अच्छा महसूस कर रहा हूँ। अगर मैं यह बात औरों से कहूँ तो वे यही सोचेंगे कि मुझे प्रणाम या श्रीमाँ का स्पर्श पसन्द नहीं है। निस्सन्देह, ऐसे लोग हैं जिनका, जिस-जिस दिन प्रणाम नहीं होता, कुछ-न-कुछ दूसरा कार्यक्रम रहता है—बाज़ार जाना या चूँकि वे मुक्त हैं तो साइकिल लेकर घूमने चले जाना। लेकिन मैंने अपना आज का कार्यक्रम ऐसा बनाया है कि मैं ज़्यादा शारीरिक काम करूँ। शायद काम में यह मग्नता ही मुझे शान्ति और आराम की भावना देती है।

शायद यही सच्चा कारण है।

१ अप्रैल १९३५

मुझे बस बीमारी के ही सपने आये। 'ल' बिस्तर पर थी और मैं उसके पास गया। कभी वह बेहोश हो जाती; कभी कुछ अण्ड-बण्ड शब्द मुझसे कहती। मैं उसके पास बैठ कर उसे गौर से देखता रहा। एक और सपने में 'ज' मेरे पास आयी और अपनी बीमारी के बारे में उसने मेरी राय माँगी। उसने मुझे अपने शरीर के जोड़ दिखलाये। मैंने कोई सूजन न देखी, न ही यह एहसास हुआ कि उसे कोई दर्द है, इसलिए मैंने उससे कहा कि उसके जोड़ ठीक हैं और यह कि वह बेहतर हो रही है। दोनों सपने या तो सुझाव लगे या फिर कोई ऐसी चीज़ जिसकी रचना सूक्ष्म स्तर पर हुई हो।

या फिर यह आश्रम में चल रही हाल की बीमारी की गतियों की स्वप्न-स्तरों पर फेंकी गयी छायाएँ हों।

मैंने हरिन की कविता की एक पंक्ति पढ़ी जिसमें वह कहता है, "सत्य मौत की माँग करता है"। यह एकदम सच है, क्योंकि स्वयं मैंने इसका अनुभव किया। जब व्यक्ति किसी अनुभव या अनुभूति के द्वारा प्राप्त किसी केन्द्रीय रहस्य की बात किसी दूसरे से करता है, तो लगता है कि वह उसे आंशिक रूप से खो बैठा है। और सामने वाला व्यक्ति उसे न के बराबर या आधा-अधूरा ही समझता है, और शायद अपनी ही रचना बना लेता है। इस तरह मैं कई अनुभूतियाँ गँवा बैठा हूँ—न मैंने उन्हें सहेज कर रखा, न सामने वाला उनसे लाभान्वित हुआ।



ऐसा बहुत बार होता है। सामान्य नियम के तौर पर योगी यही कहते हैं कि व्यक्ति को साधना के दौरान गुरु के सिवाय अन्य किसी के भी साथ अपनी अनुभूति की चर्चा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इससे अनुभूति व्यर्थ हो जाती है, इसे ही तपस्या का क्षय कहा जाता है। अनुभूतियाँ हो चुकने के बहुत बाद वे उनके बारे में बोलते हैं और वह भी बहुत खुल कर नहीं।

२ अप्रैल १९३५

कुछ अभ्यास के बाद मैंने देखा कि शारीरिक काम करने से मुझे थकान नहीं हो रही। परसों मेरी मांसपेशियाँ थक-सी गयी थीं, और शाम तक सामान्य थकान चढ़ गयी थी। लेकिन कल मैंने काम बड़ी आसानी से किया और शाम को शरीर में इतनी स्फूर्ति महसूस हो रही थी कि मैं सारी रात भी काम कर सकता था। बस सवेरे, शरीर के अंगों में हलका-सा दर्द था, लेकिन वह तो तब भी रहता था जब मैं शारीरिक काम नहीं किया करता था। यह शायद रात को अलग-अलग तरह के सपने देखने की वजह से भी हो सकता है।

निस्सन्देह, जब व्यक्ति ऐसा शारीरिक काम करे जिसका वह अभ्यस्त न हो तो बाद में थकान लगती ही है, लेकिन अभ्यास करते-करते वह चली जाती है। रही बात सवेरे के दर्द की, व्यक्ति उसे तब अनुभव करता है अगर रात को ठीक से आराम न मिला हो या नींद बहुत ज़्यादा अवचेतना में चली गयी हो या फिर अगर प्राणिक स्तर पर थकाने वाले अनुभव हुए हों।

३ अप्रैल १९३५

वर दे कि आने वाला दिवस धरती पर अधिक पवित्र प्रकाश और सच्ची शान्ति लाये। वर दे कि 'तेरी' अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण हो और 'तेरे' मधुर विधान को अधिकाधिक मनुष्य जानें। वर दे कि मानवता के सम्मुख कोई उच्चतर, उदात्तर और सत्यतर वस्तु प्रकट हो। वर दे कि एक विशालतर, गभीरतर प्रेम धरती पर बहे और हमारे सभी टीसभरे घावों को भर दे।

हे दिव्य स्वामी, वर दे कि यह दिवस 'तेरे विधान' के प्रति हमारे पूर्णतर उत्सर्ग का सुअवसर हो, 'तेरे कार्य' के प्रति अधिक सर्वांगीण आत्मदान हो, वर दे कि इस दिन हम अपने-आपको पूरी तरह से भूल जायें और यह हमारे लिए महानतर प्रदीप्ति और पवित्रतर प्रेम का दिवस बन जाये।

तथास्तु।

मुझे बहुत बड़ा भ्रम हुआ। मैं लकड़ी के पाड़ पर खड़ा था जो स्वाभाविक रूप से

आगे-पीछे थोड़ा हिल रहा था। मुझे लगा कि पास की दीवारें इधर-उधर पेण्डुलम की तरह हिल रही हैं, मैं समझ गया कि पाड़ के हिलने की वजह से मुझे ऐसा लग रहा है, फिर भी मैंने निश्चित रूप से यह जानने के लिए दीवार पर हाथ रख लिया कि कहीं वह तो नहीं हिल रही। लेकिन मेरी आँखों ने इतने स्पष्ट रूप में उन्हें हिलते देखा था कि अपने-आपको यह विश्वास दिलाने के लिए कि सचमुच दीवारें नहीं हिल रही हैं, मैंने उन्हें छूने की प्रक्रिया दो-तीन बार दोहरायी। फिर भी मुझे पूरा-पक्का विश्वास न हुआ—“चक्षु-मन” ने “स्पर्श-मन” के प्रमाण को मानने से एकदम इनकार कर दिया!

लेकिन ऐसा किस कारण हुआ? चूँकि मस्तिष्क के किसी केन्द्र में यह छाप बैठ गयी थी, तो क्या इसी वजह से पाड़ के हिलने का भाव दीवारों में प्रवेश कर गया? नाव में काफ़ी देर सफ़र करके, ज़मीन पर उतरने के बाद मुझे दो-एक बार इधर से उधर हिलने का अनुभव हुआ था, मानों मेरे आस-पास की धरती नौका की तरह यहाँ से वहाँ डोल रही हो—निस्सन्देह, यह सूक्ष्म भौतिक आभास था, लेकिन था पर्याप्त जीवन्त।

४ अप्रैल १९३५

सफ़ेद झुण्ड में एक काली भेड़ हुआ ही करती है। जब सब कुछ प्रसन्नता से भरा और खुश था, मैं मूर्ख की तरह इधर से उधर डोल रहा था, पूरी तरह से घपले में पड़ा हुआ, स्वार्थी और भद्दा। प्रणाम के समय मैंने गौर किया कि श्रीमाँ बाहर के साधकों और कई दूसरे लोगों को छोटे-छोटे कमल दे रही थीं, जब कि अपने प्रियजनों, जैसे ‘क’ और ‘र’ जैसे लोगों को बड़े-बड़े, खिले हुए कमल दे रही थीं। मेरे भाग्य में एक औसत आकार का कमल आया, और उस क्षण से सब कुछ समाप्त! मैं न काम कर सका न ही चुपचाप कहीं बैठ पाया, और मैंने खाना भी दवाई की तरह निगला। क्या मुझसे ज़्यादा कुरूप कोई इन्सान हो सकता है?

भगवान् के वास्ते, तुलना करने और नापने-जोखने के इस तरह के दौरे तुम्हें क्यों पड़ते हैं भला? ये चीज़ें माँ के विचार या अभिप्राय के एकदम विजातीय हैं। वे साधकों को कमल चुन-चुन कर बिलकुल नहीं दे रही थीं—बड़े-छोटे सभी कमल वहाँ मिले-जुले रखे थे, उनके हाथ में जो आ रहा था, वे दे रही थीं।

आप तो यही कहेंगे कि प्रणाम के समय कमल बाँटने में वे कोई पक्षपात नहीं कर रही थीं। लेकिन मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता। पहली बात तो यह कि माँ उस प्रमुख कार्य के बारे में कभी अचेतन नहीं हो सकतीं जो वे उस समय कर रही हैं। दूसरी बात यह कि अगर माँ की क्रिया के पीछे कुछ नहीं होता तो यह

चीज़ मेरे अन्दर इतना विक्षोभ नहीं पैदा करती, न मुझे काम छोड़ देने की ओर प्रवृत्त करती और न ही मेरा सारा बल हर लेती। यह तो ऐसा था मानों वे मुझसे कह रही हों, “तुम इन चीज़ों पर बहुत ध्यान दे रहे हो न। लो, तुम भी यह छोटा कमल पकड़ो और मैं देखूँ कि तुम कितने गहरे पानी में हो।” यह वह सूक्ष्म व्यंग्य था जिसे माँ ने किया, हालाँकि प्रणाम के समय वे मुस्कुरा रही थीं। निश्चय ही यह उनकी चालाकी है और हमें उसका दण्ड तो भुगतना ही होगा, भले हम उसे सह पायें या नहीं!

ये सभी विचार और रचनाएँ स्वयं तुम्हारे मन में हैं और गलत शक्ति के सुझाव हैं। कुछ शक्तियों की यह चाल होती है कि वे माँ का रूप धर कर, अशुभ तथा पाखण्डी निरंकुश शासक के रूप में आ जाती हैं और हर कदम पर लोगों को सताने और प्रताड़ित करने में मज़ा लेती हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि तुम्हारे जैसे स्पष्ट मनवाले व्यक्ति का दिमाग़ भी भला इतना धुँधला कैसे हो गया कि वह इस चालाकी को समझ नहीं पाया या देखने में असमर्थ बन गया कि अगर ऐसा रूप प्रकट हुआ है तो वह माँ कभी नहीं हो सकती। लेकिन आश्चर्य यह है कि ऐसे विचार प्रायः सभी में उमड़ आते हैं जैसे ही वे ज़रा विक्षुब्ध हो जाते हैं और वे इस चीज़ के बेतुकेपन को बिलकुल देख ही नहीं पाते! यह एक बीमारी हो गयी है, हाँ सच बात है, यह चीज़ आश्रमवासियों के मन में प्रायः शुरू से ही घर कर गयी है और भले व्यापकता और शक्ति में कुछ कम हो गयी हो, लेकिन अब भी बनी तो हुई है। जिस दिन यह चीज़ पूरी तरह से विलीन हो जायेगी वह दिन सामूहिक साधना के लिए महान् दिन होगा।

यह नहीं कहा जा सकता कि मेरा मन कभी भी स्पष्टदर्शी था या है। मुझे मालूम नहीं कि पहले कभी मैंने ऐसा दावा किया भी हो। शायद तब किया हो जब मैं लड़कियों के साथ प्राणिक सम्पर्क पाने की लालसा में हर लड़की का स्वघोषित अध्यापक बन बैठा था। मेरे ख़याल से शायद मेरे अन्दर स्पष्टदर्शी मन था, लेकिन मुझसे बड़ा बेवकूफ़ कोई नहीं हुआ। क्योंकि कोई भी उन अनगिनत दृष्टान्तों की व्याख्या नहीं कर सकता जो मेरे साथ आये दिन घटते रहते हैं। यह मेरी जड़बुद्धि ही है जो मुझसे यह प्रश्न करवाती है कि क्यों माँ हमेशा ‘क्ष’, ‘त्र’ या ‘ज्ञ’ को मधुर मुस्कान देती हैं और ‘म’, ‘प’ या ‘र’ के सामने कभी-कदास ही मुस्कुराती हैं और क्यों माँ ‘अ’, ‘ल’ या ‘ट’ को उत्तम पुष्प देना कभी नहीं भूलतीं, यह सिलसिला चलता ही रहता है। मन के प्रश्न करने की क्या उपयोगिता है जब वह आपसे आये जवाब पर विश्वास ही नहीं करना चाहता? उसने आप पर कभी विश्वास नहीं किया और फिर भी मेरा मन हमेशा प्रश्न दागता ही रहता है—नहीं, उसने जो मुझसे कहा वह मैंने पूछा नहीं, लिखा, क्योंकि मुझे आपको कुछ लिखना तो था और जो कुछ मेरे मन की एकदम ऊपरी सतह पर था वही कागज़ पर उतर आया। लेकिन यह चीज़

अति की ओर बढ़ गयी है और इस तरह की चीज़ों को लिखने का कोई मतलब, कोई तुक नहीं है। तब मुझे झेलने और भुगतने दीजिये छोटे या बीच के आकार के फूलों को जो मुझे माँ से मिलते हैं, मैं दो दिन भीषण दुःख पाऊँगा, अपने-आपको व्यर्थ की क्रिया करके पूरी तरह थका दूँगा और फिर पागलखाने में पहुँच जाऊँगा। माँ के तरीक़े समझने की बजाय मेरा स्थान पागलखाने में ज़्यादा ठीक रहेगा।

तुम्हारा मन बहुत स्पष्टदर्शी और चिन्तनशील है—केवल तभी जब तुम इस हालत में होते हो, अपनी प्राणिक भावनाओं और भौतिक मन को इसे धुँधलाने की अनुमति दे देते हो, उसके बाद चीज़ों के बारे में तुम्हारा स्पष्ट दर्शन बिलकुल नहीं रहता।

एक इतनी ज़रा सी बात के लिए अपनी इस तरह निन्दा करना, उदासी में गहरे डूब जाना, बाक़ी वाहियात चीज़ें करने के बारे में सोचना—इस सबमें तुम्हें थोड़ी-सी भी सामान्य बुद्धि का पुट नज़र आता है क्या? अब एक झटके के साथ बाहर निकल आओ इन सभी दुश्चिन्ताओं से और जब ऐसी चीज़ें आयें तो अपने-आपको इनके हवाले करके और इनमें नीचे फिसलने देने की जगह तुम्हें बहुत मज़बूत और दृढ़ाग्रही होना होगा।

५ अप्रैल १९३५

जब तक 'लाइब्रेरी हाउस' के स्नानागारों का काम २० दिनों के बाद फिर से शुरू नहीं होता तब तक फ़िलहाल मेरे पास कोई निश्चित काम नहीं है। इस दौरान मैं देखना चाहता हूँ कि दो हफ़्तों के लिए काम से पूरी तरह निवृत्त होकर क्या मैं स्वास्थ्य-लाभ कर सकता हूँ? अगर इससे भी कोई मदद न मिली तो मेरे पास इस सबको छोड़-छाड़ कर यहाँ से चले जाने के अलावा और कोई चारा नहीं रहेगा। मैंने दो या तीन दफ़ा लिखने की कोशिश की, लेकिन वह सब असफल रहा। मैंने काम में डूबने की कोशिश की, उसमें भी नाकामयाबी मिली। जितनी सहायता के मैं योग्य हूँ उससे कहीं ज़्यादा सहायता आपने मुझे दी, वहाँ भी मैं फ़ेल हो गया। तब निश्चय ही, इस अन्तिम विकल्प को अपना लेने में क्या हानि हो सकती है भला? लेकिन अगर आप बेमन से इसकी अनुमति दें तो...? मुझे विश्वास है कि उसमें भी मेरे हाथ असफलता ही लगोगी।

कुछ समय के लिए काम बन्द करके तुम निवृत्त होना चाहो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मेरी एकमात्र आपत्ति यही है कि काम बन्द करके यहाँ से चले जाने को तुमने अन्तिम परीक्षण के रूप में रखा है। अगर तुम इस विचार से शुरू करोगे तो यह अपने-आपमें सफलता के रास्ते का रोड़ा बन जायेगा।

आज परीक्षण के तौर पर मैं काम पर नहीं गया, लेकिन शाम को 'च' ने मुझसे पूछा कि मैं काम पर क्यों नहीं आया। मैंने कहा कि मैंने देखा कि काम आसान

था और चूँकि वह और 'म' दोनों वहाँ मौजूद थे इसलिए मैं नहीं आया। फिर वह बोला, "हम 'न्यू सेक्रेटेरियट' की छत की लोहे की पट्टियों का काम मंगलवार से शुरू करेंगे।" मैं दिल खोल कर हँसा, वह एकदम सकपका गया। मैंने उसे समझाया कि वह काम का नया कार्यक्रम बना रहा है जब कि मैंने काम से निवृत्त होने का निश्चय कर लिया है, लेकिन अब स्वाभाविक रूप से मुझे अपनी योजना को बदलना होगा क्योंकि काम में मेरी आवश्यकता है। निवृत्त होने का विचार इस तथ्य पर आधारित था कि काम ज़्यादा न होने पर मेरे ऊपर उसका कोई दबाव न था और यह भी कि मेरे अन्दर यह उथल-पुथल मच गयी। लेकिन अब मैं अपने काम में इतना ज़्यादा डूब जाऊँगा जितना पहले कभी नहीं डूबा था।

यह अच्छा है। उथल-पुथल वैसे ही बहुत अस्थायी स्वभाव की होती हैं, भले वे बार-बार क्यों न आयें, और जब वे समाप्त हो जाती हैं तो मौसम फिर सुहाना हो जाता है। अपनी प्रकृति से ही तुम क्रियाशील हो, इसलिए स्वाभाविक है कि काम तुम्हारे पास आये।

६ अप्रैल १९३५

शायद 'म' ने अनुभव किया कि मेरी स्थिति कुछ ठीक नहीं है। शाम को वह मेरे घर पर आयी। मैंने देखा कि अगर मैं उससे बोलूँ तो उसके परिणाम-स्वरूप एक प्राणिक लेन-देन शुरू हो जायेगा, और एक सतही प्राणिक लेन-देन मुझे सन्तुष्ट नहीं करेगा। मुझे उसे छूना और उसका आलिंगन करना होगा, और अब उसके अन्दर की नैतिक भावना और उसका डर इतने जाग गये हैं कि वह इस चीज़ का कभी अनुमोदन नहीं करेगी। इसलिए मैं बहुत देर तक उसे पागल की तरह घूरता रहा, यह देख वह वहाँ से भाग गयी। इस तरह मैं व्यर्थ की जटिलता से बच गया! निस्सन्देह, सद्भावना के साथ वह मेरे पास आयी होगी, लेकिन मैं उसके सद्भावनामय प्राण से भर जाता और फिर मुझे अपने-आपको उसमें से निकालने में बड़ी मुश्किल होती।

निश्चित तौर पर, यह कष्ट उठाने-लायक न होता। आराम ऊपर से शान्ति के द्वारा आना चाहिये, प्राणिक लेन-देन द्वारा नहीं।

कुछ दिनों से मैं देख रहा हूँ कि 'च' मेरे साथ कुछ बेरुखी से पेश आ रहा है। आज कुछ काम था, 'द', 'ट' और दूसरों को बुलाया गया, लेकिन मेरा बहिष्कार कर दिया गया। मेरे साथ अगर उसका रवैया ऐसा ही रहा तो मैं उसके विभाग से हट जाना चाहूँगा। ऐसा एक भी मौक़ा कभी नहीं आया जब मैंने किसी भी काम को करने से इनकार किया हो। और भला ऐसी कौन-सी व्यक्तिगत बात थी कि

मुझे शामिल नहीं किया गया? इसी तरह अपना भरसक प्रयास करने के बावजूद मुझ पर पत्थर बरसाये जाते हैं। मैंने कभी बाहर भी इतने उत्साह और जोश के साथ काम नहीं किया जितना मैंने यहाँ किया। लेकिन हमेशा मुझ पर पथराव ही होता रहता है। अन्त में शायद सभी मुझसे कतरायेंगे।

मेरे लिए कुछ भी कहना असम्भव-सा है, क्योंकि न मुझे परिस्थितियों का ज्ञान है और न इस बात का कि सचमुच क्या हुआ। लेकिन माँ 'च' से पूछ कर पता लगायेंगी।

छोटा फूल देने की बात तुच्छ या नगण्य कैसे हो सकती है जब इसके परिणाम कड़ी-से-कड़ी सज़ा से भी बदतर होते हैं? अगर आपने उसके पीछे कुछ न रखा हो तो वह ऐसे भयंकर परिणाम कैसे ला सकता है? आप कहेंगे कि यह कोई विरोधी शक्ति इत्यादि है, लेकिन भला वह शक्ति क्रिया कैसे कर सकती है जब तक आपने उसे क्रिया करने को उकसाया न हो? और मैंने क्या किया कि मुझे यह पुण्यफल मिला? मैं कोई चीज़ कैसे सीख सकता हूँ अगर मैं इतना भी न जानूँ कि आपने ऐसी क्रिया क्यों की—क्या यह मेरे काम में किसी कमी की वजह से था या फिर इसका कारण यह था कि मैं इस बात पर नज़र रख रहा था कि आप किसको कितना बड़ा कमल दे रहे हैं? अगर इसमें कोई सच्चाई है तो मुझसे आप कहते क्यों नहीं? और अगर मैं अपने-आपको सुधार न पाऊँ तो क्या फ़ायदा? एक जन्म गँवा दूँगा मैं!

तुम यह क्यों समझते हो कि श्रीमाँ विरोधी शक्तियों को क्रिया करने देती हैं? तब तो वे स्वयं योग के लिए विरोधी शक्ति होंगी, यानी, स्वयं अपने लिए। कई बार तुच्छ-सा कारण परिणामों को बढ़ा-चढ़ा कर सामने ले आता है—छोटा या बड़ा फूल देना बड़ी नगण्य चीज़ है, बड़े या छोटे पर कुछ भी निर्भर नहीं करता। लेकिन तुम्हारे मन ने उस पर कोई काल्पनिक अर्थ चिपका दिया है (माँ का दूसरों के साथ पक्षपात करना, तुमसे नाखुश रहना या दुर्भावना रखना) और इन्हीं चीज़ों पर विक्षुब्ध करने या इनका विरोध करने वाली शक्तियाँ बड़ी-बड़ी मुसीबतें ला खड़ा करती हैं और वे यह सब इसीलिए कर पाती हैं क्योंकि तुम उन्हें ऐसा करने की खुली छूट दे देते हो। इसके अलावा उसमें और कोई बात न थी।

७ अप्रैल १९३५

लेकिन यह कैसे हो सकता है कि माँ विरोधी या दूसरी शक्तियों को क्रिया करने नहीं दे सकती या नहीं देंगी, क्योंकि असुर और राक्षस और पिशाच भी तो आखिर उन्हीं के बालक हैं? और फिर मैं अकेला ऐसा नहीं था जिसने प्रणाम के समय साधकों को माँ द्वारा दिये बड़े या छोटे पुष्प के बारे में अपना काल्पनिक अर्थ

*न लगाया हो। 'ज' ने भी इस पर गौर किया था जब उसने 'न' के हाथ में बड़ा कमल देखा। स्वाभाविक है कि दूसरों ने भी इस पर ध्यान दिया हो, शायद मुझसे कहीं ज़्यादा। लेकिन शायद जो मेरा प्राप्य है उसका मिलना मेरे भाग्य में बदा था, वह भी तीन दिनों के जमा सूद के साथ!*

कौन-सी बड़ी बात हो गयी अगर 'ज' ने कमलों के विभिन्न आकारों पर ध्यान दिया? निस्सन्देह, कमल विभिन्न आकारों के थे। लेकिन यह इस बात को कैसे सिद्ध करता है कि एक को बड़ा और दूसरे को छोटा कमल देने के पीछे माँ का कोई इरादा था? आश्रम के साधकों को जो भी कमल उनके हाथ में आये उसे बिना किसी सोच-विचार के वे देती हैं। चूँकि कमल समान आकार के नहीं होते तो तुम क्या चाहते हो कि वे करें? हाँ, अगर कोई चमत्कार करके वे सभी छोटे कमलों को बड़ों में बदल दें या बड़ों को छोटा बना दें तो और बात है! और आकार को लेकर यह सब क्या चल रहा है? आकार से क्या फ़र्क पड़ता है भला? बात यही है कि तुम और दूसरे पुरानी प्राणिक बेवकूफ़ी की एक लहर में फँस गये हो और प्रणाम के समय बस यही देखते रहते हो कि माँ क्या कर रही हैं और क्या नहीं, और फिर उसकी हर सम्भव व्याख्या करते रहते हो और वही समान बकवास करने पर तुले रहते हो, "माँ इससे नाखुश हैं, उससे खुश हैं, आज उन्होंने ऐसा किया, वैसा नहीं किया।" कुछ समय तक हमारे पास बेहतर चिड़ियाँ आती थीं, लेकिन अब फिर से वही पुराने ढर्रे की आने लगी हैं जिनमें बस शिकायतें, विद्रोह या बिसूरना ही भरा रहता है। अगर तुम इन्हीं विचारों और भावनाओं में रमे रहो और अगर माँ को भी इन्हीं पचड़ों में व्यस्त रखो तो प्रणाम का कोई आध्यात्मिक लाभ कैसे उठा सकते हो तुम सब? यही कारण है कि पिछले साल से, सचमुच उससे भी अधिक समय से, मैं ज़ोर देकर हर एक से यह कह रहा हूँ कि वह इस सबमें न पड़े और अपना ध्यान सच्ची आन्तरिक चीज़ों की ओर मोड़ दे।

जहाँ तक आसुरी शक्तियों की बात है, उनकी क्रिया 'अज्ञान' में की गयी सामान्य वैश्व गति का एक हिस्सा होती है, लेकिन माँ यहाँ उस गति को बढ़ावा देने के लिए नहीं हैं, वे यहाँ उच्च 'सत्य' को अवतरित करने के लिए हैं जिसमें इन चीज़ों का कोई स्थान न होगा। और अगर वे प्रतिकूल शक्तियों को स्वयं अपने, अपने कार्य के और साधकों के विरोध में (यह चीज़ तो साधक स्वयं करने के लिए तैयार बैठे रहते हैं) सञ्चालित करें तो इसका तो यही अर्थ निकलेगा कि वे स्वयं अपने विरुद्ध कार्य कर रही और स्वयं यहाँ बने रहने के अपने उद्देश्य को निष्फल बना रही हैं! ऐसी क्रिया अपनी चरमावस्था में बेवकूफ़ी-भरी निरर्थक क्रिया होगी।

८ अप्रैल १९३५

*क़रीब-क़रीब मेरे सभी दोस्त अब मुझसे कतरा रहे हैं। 'ह' ने निवृत्ति ले ली है, 'अ' केवल तभी बात करता है जब मैं उससे बोलता हूँ। 'स' न के बराबर मुझसे बात*

करता है, 'व' और मेरे बीच वैसे ही कुछ अनबन-सी रहती है, 'ज' अपने बहुत अधिक सक्रिय मन के कारण संगी के रूप में मेरे लिए अभी तक बहुत असहनीय है, और 'स' के साथ बातचीत करने की बड़ी शर्तें होती हैं। जो लोग मुझसे बातें करेंगे वे हैं बस 'न' और 'य'। हाँ, वैसे 'प' भी मेरे साथ बहुत मैत्री का बर्ताव कर रहा है—मुझे मानना पड़ेगा, उसे श्रेय देना होगा कि वह मेरे लिए अपना स्नेह काफ़ी समय तक बनाये रख पा रहा है। मैं 'ल' और 'ट' के साथ बातचीत करने की पहल कभी नहीं करता, हाँ, वे अगर एक-आध शब्द बोलें तो मैं उत्तर ज़रूर दे देता हूँ। जैसा कि जासूसी कहानियों में कहा जाता है। "खेल ख़तम!"

कैसा खेल?

बहरहाल, जिस काम की तुम बात कर रहे हो (जिसके लिए तुम्हारा कहना है कि तुम्हें बुलाया नहीं गया) वह चन्दूलाल के कमरे में कुछ सामान यहाँ से वहाँ हटाना भर था। उस काम के लिए दीक्षित वहाँ था और चन्दूलाल ने सहायता करने के लिए खिरोद को वहाँ रोक लिया था। तुलसी ऐसे ही वहाँ पहुँच गया था और यह काम होते देख वह भी मदद करने लगा। बस बात इतनी सी थी। कोई औपचारिक काम नहीं था, इसलिए कोई निमन्त्रण नहीं भेजे गये।

मेरी समझ में नहीं आता कि 'Pepsin-hydrochloric acid' जो मैं लिया करता हूँ, उसकी महक सारे दिन मेरी नाक में ऐसी समायी रहती है कि मैं किसी भी गन्ध को—अच्छी हो या बुरी—ले ही नहीं पाता। या फिर यह 'अ' के भाई जैसा हो रहा है जिसने यहाँ से जाने के बाद कोई ऐसी दृष्टि विकसित कर ली जिसके द्वारा वह कभी-कभी मनुष्यों को हाड़-मांस, रक्त-सञ्चार इत्यादि के साथ देख सकता था! मैंने शरीर के अन्दर चल रही सभी चय और अपचय (metabolic and katabolic) प्रक्रियाओं की गन्ध को पहचानने की क्षमता विकसित कर ली है! और इसके साथ जुड़ गये हैं आलस्य और तेज़ चलने की अक्षमता, पैरों में कमज़ोरी और दिमाग में अचञ्चलता—ये सभी लक्षण "neurasthenic acidosis" —थके मन की खटास —(मैंने इस नाम का आविष्कार किया है) के जान पड़ते हैं!

शरीर के अन्दर के हिस्सों को देखने (कम-से-कम अपने शरीर के) की शक्ति राजयोग तथा हठयोग के द्वारा विकसित की जाती है—मेरे ख़याल से इस प्रक्रिया को दूसरों के शरीर पर भी लागू किया जा सकता है। कुछ लोगों के अन्दर सूक्ष्म गन्ध को भी पाने की क्षमता होती है, और मैंने यह भी देखा है कि कभी-कभी कोई गन्ध व्यक्ति के साथ बहुत समय तक बनी रहती है।

लेकिन, दिमाग की अचञ्चलता खटास का लक्षण कैसे हो सकती है—कुछ एक परिस्थितियों में भले ऐसा होता हो, लेकिन क्या शरीर उसका उत्तर तमस् या कमज़ोरी दिखा कर देता है?

९ अप्रैल १९३५



टैगोर इसकी आशा कैसे कर सकते हैं कि जगत् आपके शब्दों पर कान दे जब कि जगत् युद्ध के सिवा और कुछ नहीं चाहता? गाँधी के अहिंसा के सन्देश या स्वयं टैगोर के एकता के सन्देश पर हो सकता है कि जगत् पाँच प्रतिशत ध्यान दे। हाँ, अगर उस्पेस्की प्रोली का, आइंस्टाइन जर्मनी का, रोमें रोलाँ इटली का, बैर्ज़साँ फ़्रांस का और होम्स या संडरलैण्ड अमरीका के तानाशाह बन जायें तो हलकी-सी सम्भावना है। वरना, जगत् किसी की भी बात सुनने के 'मूड' में नहीं दीखता।

बहुत से बुद्धिवादियों की तरह टैगोर के अन्दर भी "सन्देशों" में श्रद्धा है—वे भाषणों और सन्देशों अथवा लेखनों को सर्वसमर्थ मानते हैं। मेरे खयाल से अब कई "प्रोफ़ेसर" तानाशाह भी होने लगे हैं, लेकिन जो-जो नाम तुम सुझा रहे हो वह तो आदर्श होगा! क्योंकि ये तानाशाह यह नहीं जान पायेंगे कि कैसे और क्या आदेश दें (वे शायद राष्ट्र को अपने सन्देश लिख कर दे दें) और अगर उन्होंने लिख कर दे भी दिये तो राष्ट्र के लोग उनकी आज्ञा का पालन ही नहीं करेंगे!

१० अप्रैल १९३५

श्रीअरविन्द

मनुष्य पृथ्वी पर ऐसा देवता है जो जड़-जगत् में उलझे हुए घनत्व की स्थिति में जड़ पर आत्मा के परोक्ष नियम को और मानव-स्वभाव पर दैवी स्वभाव को आरोपित करने के लिए खेल रहा है। विकास है, पार्थिव चेतना की घनता में से आत्मा का क्रमशः उद्घाटन और इस प्रत्यक्ष पाशविक सत्ता में से भगवान् की धीरे-धीरे आत्माभिव्यक्ति।

योग है, दिव्य आत्माभिव्यक्ति की इस प्रक्रिया का, तपस् की उस परम शक्ति की प्रक्रिया का विनियोग जिससे भगवान् ने इस जगत् को रचा, जो अब उसे सहारा देते हैं और फिर उसे नष्ट कर देंगे। योग सदा हमारी बद्ध पाशविक मानवता की सीमित क्रियाओं के स्थान पर अनन्त दिव्य शक्ति की प्रत्यक्ष क्रिया को ले आता है। वह भगवान् की ओर उठने के लिए भागवत साधनों का उपयोग करता है।

समस्त योग तपस्या है और समस्त योग-सिद्धि भगवान् के साथ एकात्मता या भागवत सत्ता के तत्त्व या उसके व्यक्तित्व या दोनों के साथ एकात्मता, और सम्बन्ध के द्वारा युगपत् भागवत निष्पत्ति है।

एकात्मता अद्वैत का सिद्धान्त है, द्वैत का सम्बन्ध है, विशिष्टाद्वैत की सापेक्ष एकात्मता के साथ सम्बन्ध है। परन्तु सर्वांगीण पूर्णता भगवान् के साथ तात्त्विक अनुभूति की एकात्मता और अभिव्यक्ति की अनुभूति में उनके साथ विभेद के सम्बन्ध से आती है।

१९१३

श्रीअरविन्द